"उत्तरी भारत में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन"

(ई०पू० ६०० से ई०पू० २०० तक)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी.फिल उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
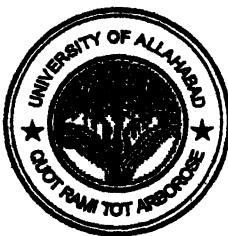
2001

प्रस्तुतकर्त्ता
दीपक कुमार राय
चीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

पर्यवेक्षक
डा० शशिकान्त राय (प्रवक्ता)
प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

समर्पित

नीलम दीदी

को

जो अब नही हैं परन्तु इस मास से वह कम खुश नही होगी क्योकि यह उन्ही का सपना था जो न जाने कब से उन्होने मुझ में बोना शुरू किया था। सतोष इसी का है कि उस सपने की खातिर कुछ कर सका।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का

विषय

"उत्तरी भारत में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन"

(ई०पू० ६०० से ई०पू० २०० तक)

विषय-सूची

प्राक्कथन

चयनित विषय पर शोध कार्य के पीछे प्राचीन भारत के सामाजिक गठन एव अर्थ नियोजन के सश्लिष्ट चरित्रों का सम्यक् अनुशीलन एवं उनकी तार्किक प्रस्तुति ही एकमात्र अभिप्रेत रहा। वस्तुतः यह काल विशेष हमेशा से ही मेरे लिए उद्दाम आकर्षण का केन्द्र रहा है। इसे लेकर मेरी अपनी कुछ जिज्ञासाएँ तो थी ही, निश्चित ही थी, लेकिन बडी अस्पष्ट, उलझी हुई, कुछ बेतरतीब सी। उन्हें एक रूप, एक आकार, एक सिलसिला चाहिए था, जो मेरे श्रद्धेय गुरू और शोध पर्यवेक्षक डा० शशिकान्त राय के सान्निध्य में मिला।

सचमुच इस विशेष कालावधि में बड़े व्यापक स्तर पर क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। सारे सम्बन्ध, चाहे सामाजिक नियमन को लेकर हो या आर्थिक प्रबन्धन को समेटे हों, नये-नये निकषों पर कसे जा रहे थे। धर्म और अर्थ का दबाव समाज को नये आकारों में गढ़ रहा था। परम्परागत ढांचा टूट रहा था और जो नया बन रहा था, उसे नयेपन के नाम पर 'कुछ भी' नहीं स्वीकार्य था। चीजों की पूरी जांच पड़ताल कर रहा था। अपने हित और अहित में स्वीकार और नकार रहा था।

वस्तुतः किसी भी परिवर्तन के लिए दो स्थितियां प्रत्यक्षतः जिम्मेवार होती है। एक तो यह समझ कि समस्या है और यह व्यवस्था के मूल में हैं और यदि इसे बदलना है तो फिर आमूल ही बदला जा सकता हैं, टुकडों में नहीं। और दूसरी कि परिवर्तन के औजार-उपकरण मौजूद है कि नहीं और यदि होंगे तो क्या होंगे, उनका बेहतर संचालन कैसे होगा।

प्रस्तुत शोध प्रबंध का विषय प्राचीन भारतीय इतिहास के एक विषेश काल खंड में (ई०पू० ६०० से ई०पू० २०० तक) सामाजिक आर्थिक परिवर्तनों की शल्यक्रिया से सम्बिधित हैं। यह तथ्य सर्व स्वीकृत है कि कोई भी समाज परिवर्तनशील होता है। देश काल का कोई बन्ध नहीं स्वीकारता। उसके भीतर निरन्तर परिवर्तन होते रहते है। अपनी आन्तरिक बुनावट और सांस्कृतिक मूल्यों के मध्य सही संतुलन के लिए नट-साधना बराबर चलती रहती है। प्राविधिक शक्तियों का विकास एवं उत्पादन की क्षमता में परिवर्तन और विकास समाज को बदलने के लिए

उत्प्रेरित ही नहीं लगभग बाध्य कर देता है। यह कत्तई जरूरी नहीं कि परिवर्तन की कतिपय प्रक्रियाओं के चलते समाज का स्वरूप ही बदल ही जाये, लेकिन हा, प्राविधिक शक्तिओं के विकास से बढ़ी हुई उत्पादन क्षमता और प्राकृतिक संसाधनों का अधिकाधिक दोहन, उपयोग एव उपभोग के स्तरों तक पहुंचता है तो परिवर्तन प्रारम्भ जरूर हो जाता है। नयी-नयी सस्थाओं और सामाजिक संरचनाओं का जन्म होता है। उदाहरण के लिए देखें तो सामाजिक वर्ग विभाजन, सत्ता का शक्ति में रूपान्तरण लोक सस्कृति का विभिन्नीकरण जिसके अर्न्तगत अभिजात सस्कृति का जन्म होता है और समाज की आन्तरिक सरचना जटिल से जटिलतर होती जाती है। चूंकि उत्पादन क्षमता में वृद्धि के कारण व्यक्ति निर्वाह के न्यूयनतम स्तरों से उपर उठकर उपभोग की भी सोचने लगता है तो जाहिर है सचय की प्रवृत्ति का विकास होता है। बहुत स्वाभाविक है कि व्यक्ति, समुदाय अथवा वर्ग इस पर नियंत्रण के लिए उत्सुक हों। आलोच्य कालावधि इसकी सबसे सटीक साक्षी है। क्योंकि एक शोधार्थी के रूप में मेरी ऐसी मान्यता बनी है कि जैसे-जैसे आर्थिक विकास होता गया हैं सामाजिक समरसता के तंतु उलझते चले गये हैं।

चूंकि कोई भी परिवर्तन आसान नहीं होता, अचानक नहीं होता और अनायास भी नहीं होंता। जाहिर है यह भी नहीं था। यह सदियों के अर्न्तर्सघर्ष और सायासता का प्रतिफलन था। बौद्ध और जैन विचारधाराओं नें परिवर्तन की समझ और मानसिकता विकसित की तो कृषि में लौह तकनीक के प्रयोग ने परिवर्तन के औजार थमा दिये। प्रस्तुत शोध प्रबंध में बुद्ध के आविर्भाव को एक बडी परिघटना के रूप में देखा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म की रुचि धार्मिक क्रान्ति की अपेक्षा सामाजिक क्रान्ति में कही अधिक थी। उन्होंने सामाजिक समता के जनतांत्रिक मूल्य की नींव डाली। सामानता का ढोंग रचने की अपेक्षा असामानता के सत्य को स्वीकार किया और न केवल स्वीकार किया अपितु इसके प्रतिकार में समानता के लिए ईमानदार प्रयास भी किया। यह मानने में, मुझे एक शोध छात्र के रूप में कोई असुविधा नहीं हो रही, कि सामाजिक नियमन के आधारों पर आर्थिक शोषण उस युग का एक सच था। प्राविधिक शक्तियों के विकास ने अधिशेष को तो सम्भव बना दिया परन्तु उपभोग उसका अभिजात्य वर्ग तक ही सीमित रहा क्योंकि सामाजिक नियमन ही कुछ ऐसा था। बुद्ध के आविर्भाव को आलोच्य कालावधि की एक बडी परिघटना के रूप में इन्हीं संदर्भो में व्याख्यायित किया गया हैं कि उन्हें

समस्या की समझ है, कि यह सामाजिक नियमन कोई दैवी विधान नहीं, कि यह पूर्व जन्मों का फल नहीं अपितु कुछ चालाक लोगों द्वारा शोषण की साजिश है। बुद्ध के पहले जो 'नियति' थी अब साजिश लगने लगी। 'यह व्यवस्था बदल सकती है' बुद्ध ने इस कोण से भी सोचना सम्भव बना दिया। बुद्ध की स्थिति घर में सबसे पहले जागे हुए सदस्य की भाति प्रतीत होती है जो सबके जागने का इतजार नहीं करता अपितु सबको सप्रयत्न जगाता है। लोगों को लगा कि एक व्यक्ति है ऐसा जो हमारे दुःखों को समझता है। वास्तव में बुद्ध की शिक्षाओं का मनुष्य की दु.खों से मुक्ति के साथ गहरा सम्बन्ध है। यह तथ्य और गाढ़ा तब प्रतीत होने लगता है जब हम ब्राह्मण धर्म की भेद परक व्यवस्था के बरअक्स इसे देखते हैं जिसमें 'पुर्नजनम संकल्पना' मुक्ति की कोई सम्भावना ही नहीं छोडती।

यह ठीक है कि बुद्ध के विचार उनके प्रचार-प्रसार ने समाज को एकदम से बदल नहीं दिया लेकिन गलत उत्तरो के साथ जीने की सदियों पुरानी आदत को न सिर्फ चिन्हित किया वरन् छोड़ने के लिए उत्प्रेरित भी किया। मै भी मानता हूं कि हर बार बुद्ध के पास भी सही-सही जवाब नहीं थे परन्तु एक शोधार्थी के रूप में इस निर्णय पर जरूर पहुंचा हूं कि हर बार उन्होंने सही सवाल जरूर खड़े किये। तब यह बहुत बडी बात थी, इतनी कि इसे क्रान्तिकारी कहा जा सके।

यह थोडी सी चर्चा थी पहली स्थिति की जिसमें समस्या की समझ और परिवर्तन की मानसिकता बनायी जाती है। अब चर्चा उपक्रमों की, उपकरणों-औजारों की जिनसे परिवर्तन सही में घटित होते हैं। इस क्षेत्र में सबसे क्रान्तिकारी और आलोच्य कालावधि की दूसरी बड़ी परिघटना थी कृषि क्षेत्र में लौह तकनीक का व्यापक अनुप्रयोग जिसने परिवर्तनकामी मानसिकता को परिवर्तन के औजार भी थमा दिये। रूपकों का इस्तेमाल करे तो 'लोहे से सोना उत्पन्न'* होने लगा। निर्वाह की अर्थ व्यवस्था अधिशेष और उपभोग की अर्थव्यवस्था बन गयी। कृषि के प्रसरण, महत्व एवं लौह तकनीक से बढ़ते हुए उत्पादन ने इसी विशिष्ट कालावधि में शहरों के अस्तित्व को सम्भव बनाया जिसे हम द्वितीय नगरीय क्रान्ति के रूप में बेहतर जानते हैं। चूंकि

---

* कृषि में लौह तकनीक के अनुप्रयोग से उत्पादन में आई अचानक वृद्धि एव तज्जनित समृद्धि के सन्दर्भो में

शहरों के निवासी प्रधानतया ऐसे लोग होते हैं जो खेतिहर नहीं होते अतः शहरों के अस्तित्व एव विकास के लिए आस-पास के ग्रामीण क्षेत्रों से सुपुष्ट कृषि आधार अनिवार्य है ताकि शहर में निवास करने वाले लोगों, शासकों, पुरोहितों, शिल्पियों, कारीगरों, सिपाहियों इत्यादि का भोजन प्रबन्ध हो सके।

मुद्रा अर्थव्यवस्था का सूत्रपात व्यापार-वाणिज्य के क्षेत्र में क्रान्तिकारी कदम सिद्ध हुआ जो इसी विशिष्ट काल खण्ड की देन है। वस्तु विनियम की एक सीमा है जो दूरस्थ प्रदेशों से व्यापार की संभावनाओं को तो और ससीम कर देता है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में इस पर भी चर्चा की गई है।

जन, जनपदों से होती महाजनपदों तक की यात्रा निर्विकल्प रूप से महान् मौर्य साम्राज्य की मंजिल तय कर रही थी, महान् मौर्यों का अभ्युदय आलोच्य कालावधि की एक अन्य विशिष्ट परिघटना थी। राज्य नियंत्रित अर्थव्यवस्था ने समाज को भी नई भंगिमाओं से लैस कर दिया। समाज के हर वर्ग को उत्पादन में शामिल किया गया चाहे वे स्त्रियां रही हो चाहे शूद्र। क्योंकि राजस्व की वसूली सर्वप्रधान था जिसके बिना इतनी बड़ी राजशाही चल नहीं सकती थी। अतः प्रत्येक वस्तु पर करारोपण एव उनकी वसूली सुनिश्चित की गई। स्थितिया अब वैसी ही नहीं रह गई थीं जैसी पहले थीं। आर्थिक क्रिया व्यापारों के दबाव में समाज, वह भी धर्म आधारित, टूट रहा था। प्रायः सभी वर्ण अपने-अपने वर्ण विरुद्ध कार्यों को करते हुए जीविकोपार्जन में लगे हुए थे। मौर्य युगीन सामाजिक संगठन एवं अर्थ नियोजन की विशिष्टताएं एवं उनकी अन्योन्याश्रितता प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में विमर्श का एक महत्वपूर्ण विषय है।

वस्तुतः सामाजिक गठन एवं अर्थ व्यवस्था परस्पर इतने अविच्छिन्न है कि अलग-अलग पहचान कर उन्हें विश्लेषित करना असाध्य नहीं तो दुःसाध्य जरूर है। अक्सर एक दूसरे की सीमाओं को अतिक्रमित करते हुए ये कभी-कभी तो एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं। तथापि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में उन्हें अलग-अलग अध्यायों में ही बांट कर विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। इसलिए नहीं कि मेरा जेहन ही कुछ मुश्किल पसन्द है अपितु इसलिए कि लक्ष्य अगर कठिन है तो रास्ते भी दुर्गम ही होंगे, ऐसा मानस बन ही जाता है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में

आलोच्य कालावधि की अर्थव्यवस्था एव सामाजिक सगठन के विभिन्न पहलुओं एवं उनके आपसी अन्तर्सम्बन्धों को पांच अध्यायों में बाट कर भरसक जायज जांच-पडताल करने की विनम्र कोशिश की गई है।

प्रथम अध्याय में अधीत कालीन समाज (ई०पू०६०० से ई०पू०२००) से पहले के सामाजिक संगठन को समझने का प्रयास किया गया है। इसके अन्तर्गत पूरे वैदिक युग के समाज को विवेच्य बनाया गया है। विकास एव परिवर्तनों की क्रमिक और अपेक्षया ज्यादा सुसंगत तस्वीर प्रस्तुत हो सके इसलिए ऋग्वैदिक युग एव उत्तर वैदिक युग के रूप में दो उपभागों में वर्गीकृत कर विश्लेषित किया गया है।

ठीक इसी तर्ज पर द्वितीय अध्याय में अधीतकाल से पहले के आर्थिक क्रिया-व्यापारों का जायजा लिया गया है। प्रथम दो अध्यायों में क्रमशः सामाजिक संरचना एव आर्थिक नियोजन की व्याख्या में अधीतकाल से पहले की स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है, एक पृष्ठभूमि तैयार की गई है ताकि अधीत कालीन विवेचन को एक संतुलित और समग्र परिप्रेक्ष्य मिल सके।

अब तृतीय अध्याय, अधीतकालीन समाज उसकी संस्थाओं एवं सरचनाओं को विमर्श का विषय बनाता है। इसमें चारों वर्णों की अलग-अलग स्थितियों पर विचार करते हुए उनके आपसी अन्तर्सम्बन्धों की व्याख्या भी की गई है। अस्पृश्यता जैसी नई चीज से परिचय इसी कालावधि के दौरान होता है अतः उस पर कुछ विशेष ध्यान दिया गया है। परिवार, विवाह जैसी संस्थाओं के विश्लेषण के साथ-साथ स्त्रियों की स्थिति पर भी यथा सभव कुछ विचार रखे गए है। वेश-विन्यास, अलंकरण एवं मनोरंजन की प्रकृति पर भी एक विहंगम दृष्टिपात किया गया है क्योंकि इन्हीं सब चीजों से समाज के जीवन स्तर पर एव आर्थिक समृद्धि का पता चलता है। सुविधाओं की उपलब्धता और उनके उपभोग का पता चलता है। अधीत काल को 'मौय पूर्व' या 'बुद्ध का काल' एवं मौर्य युग के रूप में एक विभाजक रेखा खींचते हुये समझने का प्रयास किया गया है क्योंकि बुद्ध का आर्विभाव आलोच्यकालावधि की पहली बडी परिघटना थी तो महान मौर्यों का अभ्युदय दूसरी। दोनों ने ही तत्कालीन समाज को अपने-अपने तरीकों से प्रभावित किया था

जिसे साफ-साफ और तफसील में जाकर समझने की आवश्यकता थी। इसीलिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के इस तृतीय अध्याय में विवेच्य हर उस बिन्दु या विषय पर मौय पूर्व एवं मौर्य युगीन दोनों ही स्थितियों पर साथ-साथ विचार करते हुए ही आगे बढ़ा गया है।

इसी तरह चतुर्थ अध्याय में इसी ढाचे पर आर्थिक क्रियाकलापों को विवेचित किया गया है। कृषि व्यापार-वाणिज्य, मौद्रिक अर्थव्यवस्था एव नगरीकरण पर विशेष चर्चा है तो शिल्पौद्योगिक विकास तकनीकी दक्षता एवं कलागत वैशिष्ट्य को भी विमर्श का विषय बनाया गया हैं। व्यापारिक संघों एवं श्रेणी संगठनों के माध्यम से मिली व्यापारिक उछाल की चर्चा है तो मौर्यों के अधीन जिस तरह का बाजार नियत्रण स्थापित हुआ उसकी भी चर्चा है क्योंकि भारतीय इतिहास में फिर वैसा बाजार नियंत्रण अलाउद्दीन खिलजी के समय ही देखने को मिलता है।

पंचम अध्याय में शोध प्रबन्ध के लिए चयनित विषय के प्रति एक स्वस्थ, समग्र और आलोचनात्मक दृष्टिकोंण विकसित हो, इसका भरसक प्रयास किया गया है। तथ्यों के आधार पर गुण-दोष विवेचन इतिहास को मिथिहास होने से बचाता है। एक शोधार्थी के रूप में मेरी जो भी धारण, बन पड़ी है, विद्वद्जनों के समक्ष उसे भी प्रस्तुत करने का एक विनम् प्रयास मैंने किया है। हा, तथ्य चयन जरूर आलोच्य कालावधि के दायरे से ही रहा है परन्तु उनका परिप्रेक्ष्य पूरे भारतीय इतिहास को समेटता हुआ है क्योंकि यह काल है भी इतने विविध रूपों को समाहित किए हुए कि उसे साधने के लिए वृहत्तर परिप्रेक्ष्यों की खोज करनी ही पड़ती है। इस अन्तिम अध्याय में समग्र रूप से सभी साक्ष्यों के आाधार पर एक शोधार्थी के रूप में अपनी जिज्ञासाओं और प्रश्नाकुलता के परिशमन का प्रयास किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के लेखन के दौरान जिन विभिन्न स्रोतों का उपयोग किया गया, उनका भी कुछ विवरण यथोचित प्रतीत होता है, हालांकि जगह-जगह उन्हें सन्दर्भित किया गया हैं। प्रथम दो अध्यायों की स्रोत सामग्रियों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद सामवेद, ब्राह्मण संहिताओं, उपनिषदों इत्यादि जेसे मूल स्रोतों का उपयोग किया है। तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय के मूल स्रोतों में धर्मसूत्रों, अष्टाध्यायी, बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों, अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज का यात्रा विवरण एवं स्मृतियों में विशेषतः मनुस्मृति को परिगणित किया जा सकता है। मनुस्मृति के साथ काल

अभिनिश्चयन की समस्या थी परन्तु व्यूलर एव जायसवाल से सहमत होते हुए मैंने यत्र-तत्र उसका भी उपयोग किया है। जातको पर भी प्रस्तुत शोध प्रबन्ध काफी आश्रित रहा है यद्यपि कि उनका काल निर्धारण भी काफी विवादस्पद है परन्तु फिक महोदय, रीजडेविड्स दम्पति, विमल चरण लाहा एवं गिरिजाशंकर मिश्र प्रभृति विद्वानों का अनुसरण करते हुए जातकों का भी प्रचुर उपयोग किया गया है। हां, महाकाव्यों का भरसक उपयोग मैं नहीं कर पाया हूं।

कुछ आधुनिक विद्वानों के वैदुष्य विवेचन का मैने भरपूर सदुपयोग किया है जिनमें जयशंकर मिश्र, मदन मोहन सिंह, प्रो० रामशरण शर्मा, जी० एस० पी० मिश्र, देवराज चानना, जी० एस० धुर्ये, पी० एच० प्रभु, आर० सी० मजूमदार, रोमिला थापर, टी० डब्लू० राइज डेविड्स, रिचर्ड फिक, मैकक्रिण्डल, मैकडानेल तथा कीथ, मैक्समूलर, विलियम्स मोनियर, आइ०वी० हार्नर, रतिलाल मेहता, राजाकुमुद मुखर्जी, ए० एन० बोस, अल्टेकर एवं ओम प्रकाश इत्यादि प्रमुख है परन्तु जिनका नामोल्लेख इस समय नहीं हो पाया है उनका एवं अन्यानेक उन विद्वानों का मैं हृदय से आभारी हू जिनसे जाने अनजाने मैंने बहुत कुछ सीखा-समझा। प्रसंगानुरूप उनका उल्लेख भी होता रहेगा।

साहित्यिक साक्ष्यों के अलावा पुरातात्विक साक्ष्यों का भी हवाला आवश्यकतानुरूप दिया गया है। स्वानुभव एवं किंवदन्तियों से भी प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को कुछ गति मिली है। और अब जिक्र उन लोगों का जिनकी प्रेरणा, सहयोग, स्नेह एवं मार्गदर्शन की बदौलत यह शोध प्रबन्ध सम्भव हो सका।

सर्वप्रथम स्मरण गुरुवर डॉ० शशिकान्त राय का। इसलिए नहीं कि परम्परा है वरन् इसलिए कि सही अर्थों में इसके कुछ माने हैं। अस्पष्ट, उलझे, बेतरतीब एवं अनगढ से सवाल एक शोध प्रबन्ध का रूप ले सकते हैं, इस सम्भावना का बीज बपन उन्होंने ही किया और यह सब कुछ जो हो सका है उन्हीं की प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं पर्यवेक्षण का प्रतिफलन है। उनके शिष्यत्व में शोध प्रबन्ध तो सम्भव हुआ ही, जीवन को भी कुछ सार्थकता मिल गई। मैं ऋणी रहूँगा। जीवन पर्यन्त। गुरु पत्नी श्रीमती दीपिका राय का भी स्नेह, सहयोग एवं आशीर्वाद सतत् मिलता रहा जिसके लिए कृतज्ञ ही हो सकता हूँ।

प्राचीन इतिहास विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पूर्व विभागाध्यक्षों एवं श्रद्धेय गुरुओं प्रो० शिवेशचन्द्र भट्टाचार्य एवं प्रो० विद्याधर मिश्र, जिनके कार्यकाल में मेरा अधिकांश शोध कार्य सम्पन्न हुआ, की सदाशयता, सहयोग एव शुभेच्छा को किन शब्दों में व्यक्त करूं, समझ नहीं पा रहा उनके स्मरण मात्र से हृदय श्रद्धा से भर जाता है। उनके श्री चरणों में नतशीष हूँ। वर्तमान विभागाध्यक्ष डा० ओम प्रकाश का शुरू से ही विशेष स्नेह रहा है। समय-समय पर उनके बहुमूल्य सुझावों से भी उपकृत महसूस करता हूँ, डॉ० आर० पी० त्रिपाठी, डॉ० अनामिका राय, डॉ० जगन्नाथ पाल, डॉ० हरिनारायण दूबे, डॉ० ए० पी० ओझा, डॉ० हर्ष कुमार एवं डॉ० प्रकाश सिन्हा जैसे गुरुओं का सान्निध्य, साहचर्य एवं मार्गदर्शन पाकर अपने को धन्य समझ रहा हूं।

प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय के शिक्षकेतर कर्मचारियों में श्री मोइनुद्दीन, श्री सतीशचन्द्र राय एवं श्री अनोखेलाल जी के सहयोग एवं सुझावों के बिना इस शोध प्रबन्ध को पूरा करना कठिन होता। उनका मैं आभारी रहूँगा परन्तु जो अपनत्व एव स्नेह उन्होंने दिया उससे मैं अभिभूत हूँ। कभी नहीं भूलूँगा। श्री अनमोल अरोड़ा एवं श्री संगम लाल मिश्र के प्रति भी आभार व्यक्त करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूं।

माता-पिता के लिए क्या कहूं? निःशब्द -निर्वाक् हो गया हूं। कुछ भी सोचता हूं कितना कम पड़ता है। जिसका कोई प्रतिदान नहीं हो सकता उस स्नेह के समक्ष सिर्फ नतशीष हो सकता हूँ कि जब भी हो, ऐसा ही हो। बार-बार ऐसा ही हो।

हाँ, वंदना के लिए जरूर कुछ कहूँगा जो सखा, मित्र, सहचर, पहले हैं, पत्नी सबसे बाद में। शोध प्रबन्ध की पूर्णता उसका लक्ष्य कैसे-कब बन गया, पता ही नहीं चला। प्रूफ देखने में जितनी मेहनत उसने की कई रातें जाग कर और मुझे भी जगाकर, अद्भुत है। सोचता हूँ उसने जो माहौल, दिया क्या उसके बिना यह शोध प्रबन्ध सम्भव हो पाता। कुछ अन्य भी अजीज है जिनका जिक्र यहां नहीं हो सकेगा लेकिन इस मात्र से उनका योगदान कहीं से कमतर नहीं ठहरता। उनके प्यार, उत्सर्ग, समर्पण एवं शुभेच्छा के बिना तो कुछ भी अधूरा ही रहता, प्रस्तुत शोध प्रबन्ध तो निश्चित ही मै उन्हें याद रखूँगा। आजीवन। 'ओशो' अपनी अनायास या सायास

समुपस्थिति से माहौल को उल्लास पूर्ण एवं तनावमुक्त बनाए रखता था। पापा के लिए कुछ भी करने का शायद यही तरीका उसे आता था और कितना अच्छा तरीका था।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को पूरा करने में मेरे कुछ मित्रों का सहयोग अविस्मरणीय है। अरविन्द, जिनके सुझाव-सलाह सजीवनी थे। शोध प्रबन्ध की हर गतिविधि, हर प्रगति में वे साथ रहे। उनको हुई असुविधाओं के लिए खेद नहीं। मित्रता के नाते इतना हक तो बनता है। अरुण राय का सहयोग तो प्रातः स्मरणीय है। उनका तरीका थोड़ा गैर परम्परागत जरूर था परन्तु रहे वे सदा शुभेच्छु ही। अखिलेश राय को जरूर याद करूगा जिसने इतिहास लेखन में हिन्दी के साथ सही बर्ताव की तमीज विकसित की। उसी का आग्रह था और भरसक मैंने प्रयत्न भी किया है कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इतिहास का ही शोध प्रबन्ध रहे, कोई धर्म ग्रन्थ न बन जाय।

रमेश जी के सहयोग को तो मैं भुला ही नहीं सकता। इतने कम समय में इतना गाढ़ा प्रभाव कोई और नहीं छोड़ पाया। विपुल की तत्परता एवं उत्सुकता श्लाधनीय रही। प्रूफ देखने जैसे श्रमसाध्य एवं उबाऊ काम को भी उसने जिस उल्लास एवं मनोयोग से किया वह प्रशंसनीय है कभी-कभी तो मेरी भी उम्मीद उसे ही देख कर बंधती थी कि शायद इसे समय से पूरा कर सकूं। विपुल और रमेश जी ने वह हर काम किया जिससे मैं निश्चित होकर यह शोध कार्य पूरा कर सकूँ। राजा -छोटे की उत्सुकता ने मुझे भी क्रियाशील रखा। प्रभा दीदी को पूरा होने का इन्तजार है ताकि वे एकमुश्त इसे पढ़ सके तो रीमा सोचती है कि उसकी इतनी क्रियाशीलता, इतनी मेहनत एवं इतनी सदाशयता के बाद भी यह शोध प्रबन्ध पूरा क्यों नहीं होता। और अन्त में उन सबका आभारी हूं जिन्होंने असहयोग नहीं किया।

१

प्रथम अध्याय

पूर्व अधीत कालीन प्रावस्था के सामाजिक आधार

प्रथम अध्याय

पूर्व अधीतकालीन प्रावस्था के सामाजिक आधार

प्रस्तुत प्रावस्था के सामाजिक आधारों को ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, सूत्र ग्रन्थों एवं पाणिनि कृत अष्टाध्यायी जैसे मूल ग्रन्थों (स्रोतों से) और अधिक सुपुष्ट किया जा सकता है तत्कालीन समाज की बेहतर समझ के निमित्त कतिपय सहायक ग्रन्थों की भूमिका भी सराहनीय रही है जिनका उल्लेख प्रसंगानुरूप होता रहेगा।

प्रथम दृष्टया इस प्रथम अध्याय के दो उपभाग परिलक्षित होते हैं पहला- ऋग्वैदिक समाज एवं दूसरा- उत्तर वैदिक समाज। डा. पी. एल. भार्गव ने उत्तर वैदिक युग को भी दो भागों में विभाजित किया है। (१) परवर्ती संहिता काल एवं (२) ब्राह्मण उपनिषद काल।[1] यह लगभग एक हजार वर्षों का काल (१५०० ई.पू. से ५००-६०० ई.पू.) अपने विस्तार गति एवं विविध आयामीयता के दृष्टिकोण से तो महत्वपूर्ण है ही परिवर्तनों के लिहाज से भी विशिष्ट बन बैठता है। प्रो. जी. एस. पी. मिश्र ने कहा है कि 'अपने साहित्यिक स्रोतों के दृष्टिकोण से एक युग होने पर भी वैदिक युग सांस्कृतिक इतिहास कें एक दीर्घ तथा विविध रूप प्रसार का निरूपण करता हैं।[2]

सर्वप्रथम ऋग्वैदिक समाज की संरचना की पड़ताल के क्रम में उसके जनजातीय रूवरूप से परिचय होता है, जिसका नियमन समतावादी आदर्शों पर आधृत था। परिवर्तन की प्रक्रिया के तहत कुछ विशिष्ट वर्गों की उपस्थिति अवश्य पायी जाती है जैसे ब्रस्म, क्षत्र एवं विश तथा पुरूष सूक्त में तो स्पष्टतः शूद्र की भी।[3] परन्तु इतना भी तय है कि यह कहीं से भी चातुर्वर्ण व्यवस्था का जड़ी भूत रूप नहीं था। सर्वप्रथम अर्यो का द्विविध विभाजन, 'अर्य' एवं 'कृष्टि' समूहों में हुआ।[4] पुनश्च अर्यो का त्रिविध विभाजन ब्रस्म, क्षत्र, एव विश में हुआ। ऋग्वेद के एक मंत्र में इन्हीं तीन वर्णों की श्री - वृद्धि की कामना की गई है[5]। रोमिला थापर का यह मत है कि समाज का तीन वर्गों में विभाजन केवल सामाजिक एवं आर्थिक संगठन की सुविधा के लिए था।[6] अन्ततोगत्वा वह सामाजिक व्यवस्था सतह पर आती है जिसके गर्भ में शोषण, दमन विषमता एवं भेदभाव के बीज छिपे थे जो सूत्रों एव स्मृतियों के काल तक आते-आते वृक्ष बन गए थे और फल तो आजतक दे रहे हैं। इस चातुर्वर्ण

विभाजन एवं वैश्य-शूद्रावलम्बी समाज का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में पाया जाता है[७] लेकिन एक परवर्तीकालीन उद्धरण को आधार बना कर पूरे ऋग्वैदिक काल का आँकलन नहीं हो सकता।

डा. रोमिला थापर कहती है कि वर्ण चेतना का विकास उस समय तक बिल्कुल नहीं हो पाया था।[८] इस सम्बन्ध में श्री आर. एस. शर्मा का कथन भी समीचीन जान पड़ता है कि वैश्य-शूद्रावलम्बी सामाजिक संरचना वैदिक ऋग्वैदिक युग में नहीं पायी जाती[९] 'वैदिक इंडेक्स' के लेखकों की राय है कि ऋग्वेद में वर्ण व्यवस्था स्वीकृति पाने के लिए सघर्षरत थी।[१०]

ऋग्वेद में वर्ण शब्द का प्रयोग 'आर्य वर्ण' तथा 'दास वर्ण' के रूप में मिलता है[११] जो रंग के अर्थ में व्यवहृत है। उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में वाद के कालों में वर्ण व्यवस्था समझी जाती थी। जहाँ तक ऋग्वैदिक काल का सम्बन्ध है इस काल तक ये चारों वर्ण वंशानुगत नहीं हुए थे। ये केवल वृत्ति परक नाम थे जिन्हें अपनी क्षमता एवं इच्छा से कोई भी आर्य अपना सकता था।[१२] ये वर्ण स्थायी एंव रूढ़ न होकर पर्याप्त लचीले थे।

ऋग्वेद में ब्राह्मण शब्द का शायद सर्वप्रथम प्रयोग प्रतिभावान् या गुणवान के अर्थ में हुआ है।[१३] पुनश्च् पौरोहित्य कर्म सदैव ब्राह्मणों के ही हाथों में नहीं रहता था।[१४] दास, क्षत्रिय एवं ब्राह्मण इस कार्य को सम्पादित करते उल्लिखित है। जैसा कि नाम से अभिद्योतित होता है, दिवोदास, संभवतः दास थे और पुरोहित भी थे[१५] क्षत्रिय पुरोहित विश्वामित्र की प्रसिद्धि अज्ञात नहीं है। इस प्रकार एक वर्ण के रूप में ब्राह्मण की स्थिति ऋग्वेद तक तो मान्य नहीं प्रतीत होती।

इसी भाँति ऋग्वेद में 'क्षत्र' शब्द के भी अनेक आशय हैं।[१६] इनका प्रयोग जाति के अर्थ में न होकर शक्ति सम्पन्न व्यक्ति के रूप में हुआ है।[१७] ऋग्वेद में क्षत्र एवं क्षत्रियों का अर्थ राज्य क्षेत्र एवं राज्य क्षेत्र के निवासियों से हैं।[१८] मूलतः इस शब्द का अर्थ सैन्यबल[१९] या राज्य क्षेत्र से है। ऋग्वेद में योद्धाओं के लिए राजन्य शब्द भी प्रयुक्त हुआ है[२०] जिसके कई सन्दर्भ है जैसे - गमन करने वाला, मार्ग दर्शक, नेतृत्वकर्ता, सैन्य-संचालक, आदि। तात्पर्य यह कि वर्ण के रूढ़ अर्थों में इस वर्ण का भी विकास नहीं हो पाया था।

'विश' का भी प्रयोग केवल कृषक या व्यापारी के रूढ़ अर्थो में न होकर सम्पूर्ण आर्य जन समुदाय के लिए हुआ है।[२१] ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के पन्द्रहवें सूक्त में स्तुति करने वाला ऋषि स्वंय को 'वरूण का विश' अर्थात् सामान्य जन कहता है। विश के पति या स्वामी का उल्लेख ऋग्वेद में है[२२]। प्रजाजनों के स्वामी के रूप में[२३] भी वर्णन है। विश धातु के विभिन्न प्रयोगों जैसे आविश्, उपविश्, निविश् इत्यदि के आधार पर ऋग्वेद में इसका सामान्य सा अर्थ संचरण शील जनजाति अनुमित होता है। 'विश' वे थे जो नये चरागहों की खोज में निरंतर भ्रमणशील रहते थे।[२४]

वर्ण व्यवस्था का स्वरूप वृत्तिपरक बना रहा। व्यवसाय वंशानुगत नहीं हुए थे। किसी वर्ग के लिए कोई निश्चित व्यवसाय नहीं निर्धारित था। व्यवसाय चयन में व्यक्ति को पूरी स्वतंत्रता हासिल थी।एक मंत्र का दृष्टांत बड़ा ही रोचक है:- ऋषि कहता है मैं मंत्र का रचयिता हूँ, मेरे पिता चिकित्सक हैं, मेरी माता चक्की पीसने वाली है।[२५] एक मंत्र में एक ब्राह्मण द्वारा चिकित्सा कर्म करने का वर्णन है।[२६] एक मंत्र में इन्द्र की प्रार्थना की गई है कि वह प्रार्थी को जन का राजा बनावे या सोमपायी ऋषि बनावें या एक धनवान व्यक्ति बनावें।[२७] इसी तरह ब्राह्मण ऋषि भृगु के वंशजों का रथ बनाने में निपुण शिल्पियों के रूप में उल्लेख है।[२८] वंशानुगतिकता के अभेद्य लौह आवरण में ऐसे दृष्टान्तों की कल्पना नहीं की जा सकती।

ऋग्वैदिक काल तक निर्वाह के संसाधनों का सामुदायिक उपभोग जारी रहा। प्रो० रामशरण शर्मा का अभिमत है कि "आर्थिक संसाधनों तथा उत्पादन के घटकों का संस्थाबद्ध असमान वितरण नहीं हो पाया था। इसीलिए समाज में वर्गों के गठन की ठोस नींव नहीं पड़ सकी थी"।[२९] उच्च्व पदों की संभावना से विमुख तो नहीं हुआ जा सकता परन्तु सामाजिक वर्गों के रूप में उनकी स्थिति स्पष्ट नहीं की जा सकती।

प्रारम्भिक वैदिक समाज मुख्यतः पशुचारी था। कबीलाई तत्वों की प्रधानता थी और समाज का समतावादी ढाँचा उन्हीं तत्वों में से एक था। युद्ध में लूटा गया माल और गोधन सम्पत्ति के नाम पर इतना मात्र होता था। पुरोहितों-योद्धाओं के अस्तित्व के लिए उत्पाद अधिशेष चाहिए जो कृषि आधारित अर्थ व्यवस्था के बिना संभव नहीं था।[३०]

'परिधि द्वारा केन्द्र को हस्तान्तरण' सिद्धान्त के आधार पर जनजातीय सरदार को जो भी मिलता था उसे वह बराबर बाँट दिया करता था। इसे पुनर्वितरण कहा जाता है। ऋग्वेद में भी इसके प्रमाण खोजे गए हैं[३१] परन्तु तमाम कोशिशों के बावजूद शौर्य, बुद्धि एवं हृदय की विशिष्टताओं की मान्यता स्वरूप कुछ विशेष भी मिलता रहा होगा। ऋग्वेद के एक साक्ष्य से असमान वितरण का संकेत मिलता है।[३२] जो बहुत संभव है भविष्य के समाज को भी संकेतिक कर जाता है।

प्रो० आर०एस० शर्मा[३३] अत्यन्त रोचक तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि ऋग्वेद में वेतन या वेतन भोगियों के लिए कोई शब्द नहीं है, भिखारियों के लिए भी कोई शब्द नहीं है, उनका निष्कर्ष है कि जबरन या अन्य साधनों से हस्तगत की गई सम्पत्ति खेत या चारागार का जब कोई स्वयं के श्रम से बेहतर संयोजन एवं उपभोग नहीं कर सकता तो वेतन भोग की संस्था जन्म लेती है और वर्ग विभेदीकरण के फलस्वरूप जब लोग दरिद्र और बेदखल कर दिए जाते हैं तो भिखारियों का अस्तित्व सामने आता है। तत्कालीन समाज के विश्लेषण के बाद प्रो० शर्मा के तर्कों को प्रासंगिक माना जा सकता है।

परिवार पितृसत्तात्मक एवं प्रायः संयुक्त होते थे। परिवार ही समाज का आधार था। ''कुल'' इसके लिए सामान्य व्यवहृत शब्द था। उसमें पिता या ज्येष्ठ भ्राता 'कुलप' कहलाता था।[३४] संयुक्त परिवार जाहिर है बड़ा होता होगा परन्तु वे सभी एक ही गृह में रहते थे।[३५] यह गृह उनके गोधन[३६] एवं भेड़ बकरियों[३७] के लिए भी पर्याप्त था जो दिवस पर्यन्त चरकर रात को घर लौट आते थे।[३८]

परिवार के आकार का आकलन तो दुष्कर कार्य है, परन्तु एक सामान्य से अनुमान के आधार पर लगभग तीन पीढ़ियों के लोग एक परिवार में समाहित होते थे।[३९] पति-पत्नी दोनों ही गृह के स्वामी थे अतः दम्पति कहे गए। पाणिग्रहण के बाद पत्नी, पति के घर जाती थी।[४०]

पिता परिवार का मुखिया होता था अतएवं संरक्षक भी वही होता था। पुत्र के ऊपर पिता के असीमित अधिकारों के भी दर्शन होते हैं। ऋज्रास्व की कथा[४१] एवं शुन- शेप की कथा[४२] से इसकी पुष्टि भी की जा सकती है। परन्तु यह कठोरता अपवाद ही समझी जा

सकती है, क्योंकि सुख एव समृद्धि की कामना से प्रार्थित देवताओं का स्मरण प्राय. पिता के रूप में ही किया गया है।[४३] यह पिता एव पुत्र के बीच स्नेहिल सम्बन्धों की शायद ज्यादा सटीक व्याख्या है। पुत्रों की कामना अधिक की जाती थी इसलिए कि शायद युद्धो में योद्धा के रूप में वे अधिक सहायक होते थे ऐसी कामना भी है कि ऐसा पुत्र उत्पन्न हो कि शत्रु कांपने लगे।[४४] मरूतों से प्रार्थना है कि वे शत्रुओं को पराजित करने योग्य पुत्र दें।[४५]

एक बड़ा रोचक प्रश्न उभरकर सामने आता है कि ऋग्वैदिक परिवारों के पितृसत्तात्मक होने की बात उस समय के समाज के जनजातीय सगठन के कहीं प्रतिकूल तो नहीं ठहरती? पितृ शब्द का मूलतः सामूहिक पितरों के रूप में अर्थबोध तथा माता एवं पिता से सम्बन्धित रक्त सम्बन्धों की अलग-अलग संज्ञाओं का न होना कहीं मातृ सत्ता के अवशेषों के प्रतीक तो नहीं।[४६] ब्राह्मण एवं उपनिषदों में उल्लिखित वैदिक ऋषियों में से ३६ नाम भी मातृ नामान्त हैं। तो ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक समाज एवं परिवार के सन्दर्भों में मातृ सत्ता की सशक्त दखल को नकारा नहीं जा सकता।[४७]

विवाह की संस्था के पर्याप्त समादर एवं समुचित नियमन के बिना परिवार का ऐसा विशद् एवं समरस अस्तित्व संभव ही नहीं था। बहु पत्नीत्व अविज्ञात तो नहीं था[४८], परन्तु प्रचलित एक पत्नीत्व[४९] ही रहा होगा। वैदिक आर्यों में बहु पतित्व व्यवस्था के स्पष्ट प्रमाण सम्बन्धी दावों के बावजूद[५०] ऐसा मानने का कोई औचित्य नहीं दिखाई देता।[५१] सदाचार का निर्वाह ऊँचे स्तरों तक होता था। युवक-युवतियों को जीवन साथी चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। पिता-पुत्री एवं भाई-बहन के बीच वैवाहिक सम्बन्ध को मान्यता नहीं थी।[५२] और सम्भवतः भाइयों की संतानों के मध्य भी वैवाहिक सम्बन्ध अभिहित नहीं था।[५३] बाल-विवाह उससमय प्रचलित नहीं था हालोंकि कालान्तर में इसका प्रचलन हो गया था।[५४] ऋग्वेद में कम से कम दो जगहों पर वर-वधू के लिए 'अर्भ' शब्द व्यवहृत है।[५५] परन्तु यदि इस उल्लेख को सन्दर्भों से जोड़कर देखें तो 'अर्भवर' अपने प्रतिद्वन्द्वी को परास्त कर जीवन साथी चुनता है या वरण करता है। किसी बालक से ऐसी उम्मीद करना कुछ अतिरिक्त की ही चाह रखना है।[५६]

कभी-कभी शादी के लिए यदि युवकों को स्त्री-मूल्य देना पड़ता था[५७] तो शारीरिक रूप से अक्षम कन्याओं के विवाह के लिए वर को भी धन दिया जाता था।[५८] दहेज प्रथा के प्रारम्भिक चिह्न यहाँ खोजे जा सकते हैं। ऋग्वेद का एक सूक्त जिसे विवाह सूक्त[५९] कहा जाता है, वैवाहिक कर्मकाण्डों पर ही प्रकाश डालता है। नव-दम्पति के सुखमय जीवन की कामना की गयी है।[६०] नव विवाहिता अपने पति गृह में जिस तरह सम्मान की अधिकारिणी बनती है इसकी चर्चा भी 'साम्राज्ञी'[६१] के प्रतीक के माध्यम से की गयी है इसी सूक्त से यह भी ज्ञात होता है कि विधिवत सम्पन्न विवाह में विच्छेद की संभावना नहीं रहती थी।, विधवा विवाह अप्रचलित था यद्यपि पति के भाई के साथ (देवर के साथ) विधवा के विवाह का एक प्रसंग पाया जाता है।[६२]

एक वर्ग का व्यक्ति दूसरे वर्ग में भी विवाह कर सकता था।[६३] अंगिरस के प्रसिद्ध ऋषिकुल में असंग नामक एक राजा का विवाह हुआ था।[६४] कक्षीवान् नामक ऋषि ने राजा रचनय की कन्याओं से विवाह किया था।[६५] ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसेएक मर्यादा प्रिय समाज की स्वतंत्रता का बोध होता है।

किसी भी समाज के नैतिक मूल्यों, बौद्धिक दृष्टिकोण, सहिष्णुता इत्यादि सार्वजनीन मूल्यों की व्याख्या उस समाज में स्त्रियों की स्थिति के सन्दर्भ में की जा सकती हैं।

ऋग्वैदिक समाज के बारे में भी यदि यही कसौटी रखी जाय तो निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि भारतीय इतिहास ही नहीं अपितु विश्व इतिहास के किसी भी काल से ऋग्वैदिक कालीन नारियाँ अधिक स्वतंत्रता का उपभोग करती थी। यह ठीक है कि किसी मंत्र में पुत्री जन्म की कामना नहीं की गई है परन्तु यह भी ठीक है कि मनपसन्द जीवन साथी चुनने के अपराध में किसी स्त्री को जलाने का यत्न भी नहीं किया गया।

पुत्रों के समान पुत्रियों को भी समुचित शिक्षा दी जाती थी। लोपा, मुद्रा, घोषा, अपाला, विश्ववारा तथा सिकता निवावरी आदि स्त्रियों ने ऋग्वैदिक मंत्रों की रचना की थी अधीत काल में स्त्रियाँ बिना किसी के सहारे यज्ञों का सम्पादन कर सकती थी।[६६] ऋग्वेद में ऐसी सुन्दर कन्याओं का वर्णन है जो स्वयं ही वर पा लेती थी।[६७] सुखी दाम्पत्य जीवन को

संकेत करते हुए एक मंत्र में घर को अत्यन्त रमणीय स्थल कहा गया है।[६८] स्त्री को ही घर एवं घर में आश्रय स्थान कहा गया है[६९] शुचिता में पतिव्रता स्त्री की उपमा दी गई है।[७०]

तत्कालीन समाज में पर्दा-प्रथा का कोई चिह्न नहीं दिखाई देता।[७१] विवाह सूक्त में[७२] बधू से यह अपेक्षा की गई है कि वह सार्वजनिक सभाओं में अपनी वक्तृता के प्रकाश से चमक उठेगी। स्त्रियों के 'सती' होने का साक्ष्य तो नहीं मिलता, हॉ एक संकेत है,[७३] परन्तु उसमें भी उसे चिता पर से उतरने को ही कहा गया है। कुछ मत्रों को आधार बनाकर हम विधवा पुर्नर्विवाह का अभिद्योतन मान सकते हैं।[७४] तात्पर्य यह कि ऋग्वैदिक नारी उत्तरवर्ती नारियों की अपेक्षा अधिक अधिकारों से लैस थी और एक वस्तु बनने से अभी तक बची रह सकी थी।

शिक्षा के बारे में संभावना है कि यह मौखिक ही दी जाती होगी। शिक्षक द्वारा उच्चारित शब्दों को विद्यार्थियों द्वारा सस्वर दुहराया जाता था। एक सूक्त में इस प्रक्रिया की तुलना मेढकों के टर्राने से की गई है।[७५] एक तो यह भी अभिद्योतित होता है कि उस समय गुरूकुलों की परम्परा रही होगी और दूसरा कि इसी क्रम से पाठ याद कर उसे भावी पीढ़ी को सप्रेषित किया जाता रहा होगा। 'ब्रह्मचारिन्' शब्द का उल्लेख विशिष्ट है जिससे धार्मिक विद्यार्थी का बोध होता है।[७६] प्रवचन और उच्चारण को अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी जिसकी स्वाभाविक परिणति वाद-विवाद में अपना हुनर दिखाने में थी।[७७]

किन्तु शिक्षा को 'तप' के बिना सम्पूर्ण हुआ नहीं माना जाता था तप के प्रभाव से ही 'देवेषित' (दैवी प्रेरणा युक्त मुनि)[७८] मनीषी[७९] और विप्र[८०] (मंत्रगायक) जैसे विद्वानों की सृष्टि संभव है। अन्यत्र भी हम ध्यान, चिन्तन एवं मनन की महत्ता को प्रदर्शित हुआ पाते हैं जिसके आधार पर शिष्य स्वयं आचार्य बन सकता है।[८१]

वैदिक मन्त्रों के छन्दानुशासन को देखते हुए छन्दशास्त्र की संभावना से विमुख नहीं हुआ जा सकता, यज्ञादि कर्मों के सम्पादन के लिए ज्यामिति की सामान्य जानकारी अपेक्षित रही होगी। डा० रोमिला थापर का अभिमत है कि ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में आनुष्ठानिक नृत्य एवं संवादात्मक पाठ शामिल थे जो नाटकों के पूर्व रूप का आभास देते हैं[८२]। इसमें सन्देह नहीं कि तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था मौलिकता एवं साहित्यिक कुशलता का आदर्श परिपाक थी।

ऋग्वैदिक आर्यों का खान-पान साधारण परन्तु पुष्टि दायक था। दूध और यव उनके भोजन के केन्द्र में थे। दूध से बनने वाले घी 'धृत' और दधि का भोजन में बड़ा महत्व था[८३] घी की प्रचुर मात्रा के साथ बने हुए पूए का तो अलग से उल्लेख ही है[८४] जौ के सत्तू को दही में मिलाकर 'करभ' नामक व्यजन बनता था।[८५] भुने हुए अन्न को पीसकर सत्तू बनाया जाता था।[८६] 'क्षीरोदन' आजकल के खीर से मिलता-जुलता कोई व्यजन रहा होगा।[८७]

आर्य मांसाहार के भी शौकीन थे। मांसाहार प्रायः यज्ञीय पशुओं (भेड़, बकरी अजावयः) का ही होता था गाय को 'अघ्न्या'[८८] न मारने योग्य कहा तो गया है परन्तु गोमांस भक्षण के कुछ दृष्टान्त भी दृष्टव्य हैं।[८९] बहुत संभव है ऐसी ही गायों को मारा जाता रहा होगा जो प्रजनन के अयोग्य समझी जाती रही होगी।[९०]

सुरा गर्हित समझी जाती थी,[९१] क्योंकि इसे पीकर लोग उन्मत्त होकर अक्सर उधम मचाने लगते थे।[९२] परन्तु सोम की प्रशंसा में कई सूक्त है। यह सर्वाधिक प्रिय पेय था एवं इसे देवताओं का पेय भी बताया गया है[९३]। सोमवल्ली मूजवन्त पर्वत पर[९४] एवं कीकटों के देश में[९५] पायी जाती थी। इसकी निर्माण प्रक्रिया भी बड़ी जटिल थी। इसे ग्वाशिर (दूध) दध्यासिर (दही) यवाशिर (अन्न) मिलाकर बनाया जाता था। सम्भवतः इसी कारण इसे 'त्रया शिर सोम' कहा गया है[९६] इसकी मादकता एवं आनन्दोन्नमत्तता का वर्णन भी आया है[९७]। प्रथम दृष्टया तत्कालीन जीवन सुखी एवं स्वस्थ प्रतीत होता है।

ऋग्वैदिक आर्य सुरूचि सम्पन्न लोग थे, सुवासस् एवं सुवसन् शब्दों से वेश विन्यास के प्रति उनका स्वाभाविक लगाव अभिद्योतित होता है।[९८] 'वासस्'[९९] सम्भवतः कमर से नीचे पहना जाता था एवं कमर से ऊपर पहना जाने वाला वस्त्र 'अधिवासस्'[१००] कहा जाता था। आधुनिक शाल की तरह के वस्त्रों के भी प्रचलन में होने की संभावना थी। इन्हें शायद उत्क[१०१] और द्रापि[१०२] कहा जाता था। वस्त्र प्रायः भेड़ की ऊन से बनते थे[१०३]। इसके लिए गन्धार की भेड़े सर्वाधिक उपयुक्त समझी जाती थी।[१०४] मुनियों के लिए अजिन्'[१०५] या फिर 'मल'[१०६] नामक कोई अन्य चर्म वस्त्र पहने जाने का निर्धारण है।

नर्तकियॉ कढ़ाई किया हुआ वस्त्र पहनती थी जिन्हें 'पेशस्'[१०७] कहा जाता था। रंग-बिरंगे वस्त्रों के भी कई दृष्टान्त आते हैं।[१०८] विवाह के अवसर पर नववधू द्वारा पहना गया विशेष वस्त्र 'बाधूय'[१०९] कहा जाता था।

ऋग्वैदिक स्त्री और पुरूष समान रूप से आभूषण प्रिय थे। आभूषण स्वर्ण निर्मित एवं मणि-मुक्ता इत्यादि के होते थे। कर्णशोभन[११०] कान में, निष्क[१११] गले में तथा 'रूक्म'[११२] छाती पर शोभायमान रहता था। गले में मणियों की माला भी पहनी जाती थी।[११३] एक जगह कमल पुष्प की माला से भी अलंकरण के प्रयास किए गए है[११४] खादि[११५], कुरीर[११६] एवं विवाह सूक्त में 'न्योचनी' नामक आभूषणों के अस्तित्व की जानकारी भी प्राप्त होती है।

केश सज्जा के भी विविध प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं एक तरूणी द्वारा चार वेणियों से केश विन्यास किया गया था।[११७] बालों में तेल डालकर कंघी से सँवारने की विधि सबसे आम थी। दाढ़ी-मूँछ सामान्यतः लोग रखते थे परन्तु क्षौर कराने की प्रथा समान रूप से प्रचलित थी।[११८]

आर्यजन जीवन को सलीके से जीना जानते थे। वे प्रवृत्तिमार्गी थे और जीवन के अधिकतम सुख का उपभोग करते थे। वे बड़े-बड़े उत्सवों का आयोजन करते थे जिन्हें 'समन्' कहा जाता था। एक सूत्र से ज्ञात होता है कि इनमें लोग काफी सज-धज कर जाते थे।[११९] गायन-वादन की विभिन्न विधियॉ एवं साजो-सामान उन्हें ज्ञात थे। पक्षियों के कलरव की मानिन्द सोमगायन[१२०] और ढोल की गंभीर ध्वनि उन्हें उन्मत्त बनाती थी।[१२१] उस समय तीनों ही प्रकार के वाद्यों को आविष्कृत छुआ पाया जा सकता है। (१) अनवद्ध वाद्य जैसे दुंदुभि[१२२], (२) तंतुवाय जैसे कर्करि[१२३] एवं (३) सुषिर वाद्य जिसे नाण्ठी[१२४] कहा गया है। नृत्य एक अन्य साधन था। अब नृत्य पर स्त्रियों का ही एकाधिकार नहीं रहा। पुरूष नर्तकों के उल्लेख भी हैं।[१२५] द्यूत क्रीड़ा का आकर्षण तत्कालीन समाज में काफी था। इससे बरबाद हो चुके एक व्यक्ति के विलाप का बड़ा सजीव दृश्य देखने में आता है।[१२६] घुड़दौड़ एवं रथ दौड़ बड़े चाव से देखे जाते थे। इस प्रकार मनोरंजन के विविध प्रकारों से तत्कालीन समाज की जीवंतता का अनुमान किया जा सकता है। अस्थायी जीवन एवं व्यापक युद्धरतता के माहौल में भी आमोद-प्रमोद के इतने बहुविध चित्र आश्चर्य चकित करते हैं।

प्रथम अध्याय के द्वितीय उपभाग यानि उत्तरवैदिक काल की सूचना के मूल स्रोत हैं यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद एव पाणिनिकृत अष्टाध्यायी।

ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा इस काल में युगान्तरकारी परिवर्तन हुए। वस्तुत· यह विस्तार एव विकास का काल था। सप्त सैन्धव को छोडकर अब आर्य पूर्व के उपनिवेशीकरण की ओर अग्रसर होते हैं।[१२७] यायावरीय पशुचारक वृत्ति अब कृषि आधारित स्थायित्व भरे जीवन की ओर आकर्षित हो रही थी। सभ्यता का केन्द्र स्थानान्तरित होकर कुरू-पॉचाल[१२८] प्रदेश में जा टिका था। नदी के किनारे बसे जंगलों को साफ कर उन्हें निवास योग्य बनाया गया। तैत्तिरीय संहिता में इस प्रविधि को 'क्षेत्र'[१२९] कहा गया जिसका अर्थ शायद 'खेमा' लगाया गया है। शतपथ ब्राह्मण[१३०] की एक आख्यायिका के अनुसार स्थायी जीवन के प्रति लगाव आर्य संस्कृति पर असुरों के प्रभाव के कारण हैं।

प्रो० रामशरण शर्मा ने गंभीर गवेषणाओं के पश्चात् यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि लोहे का प्रयोग करने वाले चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के लोग उत्तरवैदिक कालीन लोगों का प्रतिनिधित्व करते थे।[१३१] अन्यत्र उनका एक और निष्कर्षण तत्कालीन जीवन के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डालता प्रतीत होता है। अनेक चित्रित धूसर मृद्भाण्ड स्थलों में तीन-चार मीटर मोटा जमाव है जो इस बात का संकेत करता है कि यहॉ विश्वस्त तथा निरंतर स्रोतों के आधार पर अनवरत बस्तियॉ थी। ये बस्तियाँ स्पष्ट रूप से प्रकट करती है कि कृषि लोगों का मुख्य व्यवसाय बन गया था।[१३२] अथर्ववेद में ब्राह्मणों के निमित्त झोपड़ियाँ एवं खेत भेंट में दिए जाने की अनुशंसा है।[१३३] बहुत संभव है कि स्थायी जीवन के कारण ही खेत को दान में दिए जाने की बात सामने आती है और स्थायी जीवन कृषि से ही संभव था। भूमि से उत्पादन हो रहा था और वह आजीविका का स्रोत बनी।

यद्यपि 'नगर' शब्द एक आरण्यक[१३४] में उद्धृत है और 'नगरिन' का भी उल्लेख दो ब्राह्मण ग्रन्थों[१३५] में हुआ था। परन्तु इनके आधार पर उत्तरवैदिक काल को नगरीय सभ्यता के विकास में किसी ठोस साक्ष्य के रूप में नहीं रखा जा सकता।[१३६] क्योंकि एक तो ये ग्रन्थ ६०० ई०पू० के पहले नहीं ठहरते और दूसरे चित्रित धूसर मृद्भाण्ड बस्तियों का समग्र विश्लेषण उन्हें कहीं से भी नगरीय विशिष्टताओं से लैस नहीं सिद्ध कर पाता।[१३७] इस सम्बन्ध

में ह्वीलर की मान्यताओं से सहमत नहीं हुआ जा सकता[३८]। प्रो० आर०एस० शर्मा के शब्दों में अधिक से अधिक चि०धू०मृ० बस्तियों को उनके अन्तिम चरणों में 'आद्य नगरीय' कहा जा सकता है।[३९]

प्रौद्योगिकी की दृष्टि से उत्तरवैदिक काल या चित्रित धूसर मृद्माण्ड संस्कृति का काल आदिम लौह काल था[४०]। तत्कालीन कृषि कर्म में लोहे का प्रयोग बड़ा सीमित था।[४१] अतः यह अनुमान भी किया जा सकता है कि आदिम तरीके की खेती एवं शिल्प प्रविधियों के आधार पर अधिशेष उतना नहीं मिल पाता रहा होगा जितना एक नगर के विकास के लिए आवश्यक रहा होगा। हॉ, ग्रामीण आधारों को संपुष्टि अवश्य मिली होगी। डी०डी० कौसाम्बी का एक अनुमान है कि पशुचारण पर आश्रित जीवन की तुलना में अनाज की खेती से चार से बारह गुना अधिक लोगों का पोषण संभव है[४२]। सीमित मात्रा में ही सही कृषि के कारण अधिशेष उपलब्ध होने लगा। फलतः इसके उपभोग के निमित्त व्यवसायों एवं शिल्पों का अभ्युदय तो होना ही था। व्यावसायिक वर्गों के विकास के दबाव में सामाजिक विभेदीकरण को निर्णायक समर्थन मिलता चला गया। प्रो० शर्मा ने उत्तरवैदिक साहित्य में व्यवसायों पर आधारित चार सामाजिक वर्गों अथवा वर्णो ब्राह्मण राजन्य वर्गों, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की चर्चा की है[४३]। परन्तु व्यवसायगत आधारों को आनुवंशिक इमारत देने में कितना समय लगता है।

अनेक पेशे कृषि की आवश्यकताओं के अनुरूप स्थापित हुए एवं जीविका के साधन के रूप में स्वीकृत एवं प्रचलित भी हुए। किन्तु अन्ततोगत्वा ये आनुवंशिक अभिप्रेरणों के आधार पर विभेदीकृत व्यवस्था के प्रमुख कारण बने।[४४] उत्तरवैदिक समाज में वर्ण व्यवस्था के सुस्थापित प्रतीकों से परिचित हुआ जा सकता है। सामाजिक स्तरीकरण एवं वर्ग बद्धता का सूत्रपात हुआ तो प्रशासनिक ढाँचे का भी ताना-बाना बुन लिया गया। कबायली संरचना को तोड़कर छोटे-छोटे कबीले आपसी सम्मिलन के द्वारा बड़े जनपदों का आकार ले रहे थे।[४५] तात्पर्य यह कि इस समय तक छोटे-बड़े राज्यों का अभ्युदय हो चुका था। कीथ[४६] ने भी माना है कि ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा बड़े राज्यों का अस्तित्व इस काल में माना जा सकता है। इसका आशय यह निकला जा सकता है पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा इस समय पुष्ट ग्रामीण आधार के द्वारा अंशतः ही सही भौतिक समर्थन मिलने लगा था। उत्तरवैदिक समाज के लोग

एक राजा के सरक्षण में एक स्थिर तथा भोजन उत्पन्न करने वाला जीवन बिताते थे।[१४७] प्रो० शर्मा ने इसे 'क्षेत्रीय' राज्य की सज्ञा दी है।[१४८]

सुनियोजित कर व्यवस्था के प्रचलन का कोई स्पष्ट प्रमाण तो दृष्टिगोचर नहीं होता फिर यह समाज या राज्य एक नियमित सेना का खर्च कैसे संवहन करता होगा? प्रो० शर्मा तत्कालीन समाज को एक छोटा मुद्राहीन समाज बताते हुए इसके द्वारा एक स्थायी व्यावसायिक सेना का वर्ष पर्यन्त भरण-पोषण असंभव बताते हैं[१४९]। उनके अनुसार ऋग्वैदिक पशुचारी समाज की जनजातीय नागरिक सेना का स्थान अब कृषक समाज की कृषक नागरिक सेना ने लिया था।[१५०] ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित सागर पर्यन्त राज्य[१५१], सम्राट[१५२] एवं साम्राज्य[१५३] पदों का उल्लेख एवं एकराट् सम्राट की संकल्पना[१५४] प्रतीकात्मक ही मानी जा सकती है। क्योंकि प्रो० शर्मा द्वारा प्रस्तुत चित्र तत्कालीन समाजार्थिक स्थितियों में ज्यादा विश्वसनीय प्रतीत होता है।

उत्तरवैदिक काल में वर्णों की स्थिति, उनके अर्न्तसम्बन्ध एवं विकास की बड़ी रोचक दास्तान है। पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा इतना व्यापक परिवर्तन शायद ही किसी और क्षेत्र में देखने में आए। इन वर्णों का परस्पर पार्थक्य तो सुनिश्चित हो ही गया था बड़े तफसील में जाकर उनका प्रदर्शन शायद अर्थ के दबाव में टूटते जा रहे समाज का सबसे बड़ा यथार्थ था। जिसका सर्वप्रथम निदर्शन ऐतरेय ब्राह्मण[१५५] में होता है जिसमें ब्राह्मण को आदायी, (दान प्राप्त कर्ता) व्यवसायी, (कर्मशील) सोमपायी तथा 'यथाकाम प्रयाप्य' (इच्छानुसार विचरण कर्ता) कहाँ गया है। वैश्यों को 'अन्यस्य बलिकृत' एवं 'अन्यस्याद्य' तथा 'यथाकामज्येयः' कहाँ गया है। शुद्र को 'कामोत्थाप्य' तथा 'यथाकामबध्य' कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण[१५६] में चारों वर्णों का एक साथ उल्लेख है। इसमें सबसे पहले विभिन्न वर्णों के लोगों को बुलाने के लिए अलग-अलग सम्बोधन की व्यवस्था दी गई है[१५७]। गायत्री मंत्र के पाठ की विधियॉ भी वर्णानुसार भिन्न थी[१५८]। याज्ञादि कर्मों के लिए वर्णानुसार भिन्न-भिन्न वृक्षों की लकड़ियॉ विहित हैं[१५९]। मृत्यु के बाद भी यह भेदपरक व्यवस्था उनका पीछा नहीं छोड़ती और प्रत्येक वर्ण के लिए अलग-अलग किस्मों की चिताओं का प्रावधान कर जाती है[१६०]।

उत्तरवैदिक काल में वर्ण व्यवस्था की जो रूपरेखा उभरती है उसमें ब्राह्मण समाज का बौद्धिक एवं सांस्कृतिक नेता था तो क्षत्रिय अपने बाहुबल के कारण राजा अर्थात् प्रशासनिक नेता था। ये परस्पर द्वन्द्वात्मक हितों के दावेदार थे। एक बुद्धि के बल पर दूसरा शक्ति के बल पर। शतपथ ब्राह्मण[१६१] एवं वासजनेयि संहिता[१६२] में ब्राह्मण को राजा की शक्ति का स्रोत एव फलत· उसे श्रेष्ठ माना गया है। किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण[१६३] एवं काठक संहिता[१६४] में क्षत्रियों की श्रेष्ठता प्रतिपादित है। दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त[१६५] ने क्षत्रियों की महत्ता को और बढावा दिया। शतपथ ब्राह्मण में उन्हें राष्ट्रभूत (राष्ट्र रक्षक) या गोपाजनस्य (सामान्य जन का रक्षक) बताया गया है[१६६]। इसके कारणों पर यदि हम दृष्टिपात करें तो सर्वप्रमुख कारण अधिशेष पर अधिकार को ठहराया जा सकता है। अधिशेष जो अन्न तथा गाय बैलों के रूप में होता रहा होगा[१६७]।

पुरोहित तो किसी भी तरह से प्राप्त कर्ता ही था। राजाओं से भी कृषकों से भी परन्तु क्षत्रिय तो सिर्फ कृषकों पर ही आश्रित था और ये दोनों उच्च वर्ग कृषकों को उपभोग्य समझते थे[१६८]। कृषक वर्ग को ब्राह्मणों ने विविध विधान रचते हुए उच्च वर्णों के नियंत्रण में स्थापित कर दिया[१६९], एवं उन सारे प्रयासों को निन्दनीय एवं गर्हित बताया गया जो उनकी सुविधाजनक स्थितियों को चुनौती देता हुआ लगा।[१७०]

वैश्यों की संख्या अन्य सभी वर्णों से अधिक थी[१७१] परन्तु प्रो० शर्मा कहते हैं कि सैन्य श्रेष्ठता तथा उन्हें प्राप्त आनुष्ठानिक समर्थन के आधार पर अभिजात शक्तिशाली होते गए।[१७२] मनुष्यों में वैश्य तथा पशुओं में गायों को उपभोग्या बताया गया[१७३]। शतपथ ब्राह्मण में उच्च वर्णों को अन्नदाता तथा साधारण जन को भोजन बताया गया है तथा उसी राज्य को धन समृद्धियुक्त एवं उन्नतिशील बताया गया है जहॉ अन्नदाता के लिए पर्याप्त भोजन हो।[१७४] सुरक्षा के नाम पर क्षत्रियों ने विश, सामान्य जन या कृषकों से धर्म निरपेक्ष भेटों तथा करों की प्राप्ति सुनिश्चित की तो ब्राह्मणों द्वारा आनुष्ठानिक भेंटों पर हक जताया गया। अथर्ववेद तथा अन्यानेक ब्राह्मण ग्रन्थ केवल कृषकों को ही समाज का 'करद वर्ग' बताते हैं, राजा को 'विशमत्ता'[१७५] कहा गया अर्थात् कृषकों का उपभोगकर्ता और उपभोग के साधन थे राजन्य और पुरोहित। अन्ततोगत्वा यह निष्कर्षण कि ब्राह्मणों ने जटिल अनुष्ठानों के जाल से उपरोक्त सामाजिक एवं राजनैतिक ढॉचे को संबल प्रदान किया तो राजा अथवा राजन्य वर्ग

ने उसे बदले में लूट का तथा 'बलि' का एक भाग प्रदान किया। सामुदायिक उपभोग की जगह दोनों उच्चवर्ग आपस में ही प्राप्त करों एवं भेंटों का बाँट लेते थे अत. बहुत संभव है कि कभी-कभी आपस में भी टकराव होता रहा होगा। परंतु अन्योन्याश्रित हितों के दबाव ने वृहदारण्यकोपनिषद में वर्चस्व के विपरीत दावों का सामजन करा दिया जिसमें कहा गया कि ब्राह्मण राजत्व का गर्भ है।[७६] इस व्यवस्था की सबसे बडी विशिष्टता यह रही कि बड़े साफ शब्दों में एवं रूपों में वैश्य एवं शूद्र को ब्रह्म एव क्षत्र से हीनतर सामाजिक स्थितियों में प्रतिष्ठिापित कर दिया गया।

वैश्य वर्ग की हीन स्थितियों की चर्चा इसी अध्याय में ऊपर की जा चुकी परन्तु कुछ अन्य साक्ष्य भी द्रष्टव्य प्रतीत होते हैं। वैश्यों की स्थिति बड़ी विचित्र प्रतीत होती है। क्रमशः ये शूद्रों के निकट होते गए। समाज के दो नियामक वर्ण इनकी बेहतर स्थिति होने भी नहीं देते थे क्योंकि इन्हीं के अधिशेष उत्पादन पर उनका अस्तित्व टिका था। क्योंकि अन्नदाता के लिए भोजन आखिर यही तो थे।[७७] उत्तरवैदिक काल के अनेक ग्रन्थों में प्रथम दो वर्णों की तुलना में वैश्य वर्ण की हीनता प्रायः चर्चित है।[७८] हालाँकि आर्थिक दृष्टिकोण से वैश्य वर्ग काफी समृद्ध था और ऋग्वैदिक त्रिवर्णीय विभाजन में भी वही शामिल था, परन्तु जनजातीयता से नागर सभ्यता की ओर प्रयाण की सर्वाधिक कीमत शायद उन्हें ही चुकानीं पड़ी।

कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य इस वर्ग के निर्धारित कर्तव्य बने। तैत्तिरीय संहिता[७९] में वैश्य को पशुधन की प्राप्ति हेतु यज्ञ करते हुए दिखाया गया है। वैश्य वर्ण को कुछ विशेषाधिकार भी प्रदान किए गए थे। वे वेदाध्ययन एवं यज्ञ कर सकते थे[८०]। संभवतः उपनयन संस्कार भी होता रहा होगा क्योंकि वेदाध्ययन की शुरूआत यहीं से होती है। अब यह पूर्ववर्ती समाज के समतावादी सिद्धान्तों का अवशेष था कि अधिशेष पर आधारित उपभोग की अर्थव्यवस्था के दीर्घ जीवन के लिए 'सेफ्टी वाल्व', यह विमर्श का विषय प्रतीत होता है। एक जगह राजा 'विशामता' है[८१] और वहीं दूसरी तरफ विजय प्राप्त करने के लिए एक ही थाली में 'विश' के साथ भोजन का भी स्वाँग (?) रचा गया है।[८२] यह भी बड़ा रोचक है कि जिनके पास हथियार के रूप में मात्र डंडे होते थे[८३], उन्हें विजय के लिए अपरिहार्य बताया गया है।[८४]

एक जगह राजा (अभिजात जन) अन्नदाता है। विश (साधारण जन) भोजन है[८५] तो दूसरी ओर राजा से विश के साथ हल जोतने की भी उम्मीद की गई है[८६] ताकि 'विश' में अलगाव की भावना न पनपे। बिबिध उल्लेखों से यह अनुमति होता है कि तत्कालीन समाज में ऐसे भी कृषक या 'विश' थे जो आज्ञा पालन नहीं करते थे एवं राज के विरूद्ध विद्रोह कर सकते थे।[८७]

कुछ ओर उदाहरण दृष्टव्य है "जनों को अभिजात वर्ग के ऊपर नहीं रखना चाहिए[८८] तथा वे लोग श्रेष्ठ व्यक्तियों तथा बुरे व्यक्तियों के मध्य भ्रम उत्पन्न करते थे जो विश को अभिजात वर्ग के समान बताते हैं और इस प्रकार उन्हें हठीला बनाते थे[८९] और ऐसा कोई भी प्रयत्न जो योद्धा/ राजाओं से कृषकों को अलग करता वो इस आधार पर निन्दनीय है कि वह अव्यवस्था को जन्म देता है और पाप कर्म का मार्ग प्रशस्त करता है।"[९०] इन वर्णनों से यह तो जाहिर है कि राजा और विश के मध्य सम्बन्ध समरस तो नहीं ही थे या कहें कि निश्छल-निष्पाप समरसता नहीं थी। यह दिखावे की समरसता थी और शायद 'सेफ्टी वाल्व' की कूटनीति।[९१]

उत्तरवैदिककालीन सामाजिक संरचना में सर्वप्रथम हम शूद्रों को एक सामाजिक वर्ग की हैसियत में पाते हैं। डा.आर.पी. चाँदा इन्हें वैदिक सामाजिक संगठन में एक नवीन जनवर्ग की घुसपैठ के रूप में देखते हैं तो आर.एस.[९२] शर्मा इन्हें आर्यों की ही एक शाखा, एक लहर मानते हैं जो ऋग्वैदिक आर्यों के साथ नहीं आए थे। पराजित अनार्यों को भी वे इसी वर्ग में रखने के हिमायती है। प्रसिद्ध विद्वान राथ और वेबर भी इन्हें आर्यों की ही प्रारम्भिक लहर बताते हैं।[९३] परन्तु प्रो. विजय बहादुर राव ने अपने विस्तृत विश्लेषण से यह सिद्ध यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि शूद्रों को आर्यों के साथ सम्बद्ध करना ऐतिहासिक दृष्टि से उचित नहीं प्रतीत होता।[९४] लुडविग महोदय का भी विश्लेषण काफी तार्किक लगता है जब वे 'शूद्र' को किसी विरोधी जनजाति का नाम देते हैं जो कालान्तर में उन सभी के लिए रूढ़ अर्थों में प्रयुक्त होने लगा जो आर्येतर तो थे, परन्तु वाद में आर्य समाज का अंग बने।[९५] यूनानी साक्ष्य भी इसकी हामी भरते हैं।[९६] उपलब्ध साक्ष्य इसमें सन्देह का लवलेश मात्र भी अवकाश नहीं छोड़ते कि शूद्रों में आर्येतर तत्वों का प्राधान्य था।[९७] परन्तु कालान्तर में आर्य समाज के भी हीन व्यवसाय करने वाले विपन्न एवं

सांस्कृतिक रूप से पिछड़े लोगों को इसी वर्ग में समायोजित कर लिया गया।[१९८] इस काल में शूद्रों को हीन स्थान प्रदान किया गया था। उत्तरवैदिक समाज का यह श्रमिक वर्ग था। शूद्रों को स्वामी के इच्छानुसार रहना पड़ता था।[१९९] उनके साथ उच्च वर्णों का वैवाहिक सम्बन्ध विहित नहीं था परन्तु इसे रोका नहीं जा सका था।[२००] इनके 'उपनयन' सम्बन्धी कोई निषेध तो तत्कालीन ग्रन्थों में नहीं मिलता और शायद इसीलिए प्रो. शर्मा शूद्रों में उपनयन की बात कह जाते हैं।[२०१] लेकिन श्रोत साहित्य में उपनयन एव वेदाध्ययन से इन्हें वचित रखा गया है।[२०२] उसे यज्ञ करने का अधिकार नहीं था क्योंकि यज्ञ की अग्नि उसके लिए अशपृश्य थी[२०३] और उनका कोई देवता नहीं होता था।[२०४] शूद्रों का काम दूसरों की सेवा करना था।[२०५] वैदिक इंडेक्स में इनकी तुलना यूरोपीय सर्फ वर्ग से की गयी है।[२०६] परन्तु संहिताओं एवं ब्राह्मणों से शूद्रों के पास पशुधन के भी प्रमाण मिले हैं।[२०७] वृहदारण्यक उपनिषद में उसे 'पूषन' या पोषक कहा गया है।[२०८] रत्नहविषि के कृत्य में भी रत्निनों को उल्लेख है जो बहुत संभव है शूद्र ही रहे हों।[२०९] यजुर्वेद में तो शूद्रों को वैश्य के समकक्ष बताते हुए दोनों की उत्पत्ति एक ही साथ मानी गई है।[२१०] यद्यपि भेदभाव वाली व्यवस्था के स्पष्ट चिन्ह उत्तरवैदिक समाज में दृष्टिगोचर होते हैं तथापि परवर्ती सूत्रों एवं स्मृतियों के काल से बहुत बेहतर स्थिति में था शायद जनजातीय रक्त का समतावादी रूझान अभी कुछ शेष रह गया था।

ऋग्वैदिक काल के सयुक्त परिवार की परम्परा अब तक चली आ रही थी अथर्ववेद के उद्धरण में पारिवारिक रामराज्य की बहुशः बाकी झॉकी उपलब्ध हो जाती है।[२११] सिद्धान्ततः पितृसत्ता की प्रतिष्ठा अभी भी पूर्ववत थी। ऐतरेय ब्राह्मण का शुनःशेप आख्यान[२१२] एवं कठोपनिषद का नचिकेतोपाख्यान[२१३] उसके प्रबल प्रमाण हैं। परन्तु जैमिनीय ब्राह्मण में[२१४] उल्लिखित अभिप्रतारण की कथा में पिता के रहते हुए पुत्रों द्वारा सम्पत्ति के विभाजन पर बड़ा क्षोभ व्यक्त किया गया है। यह इस काल की सर्वथा नवीन प्रवृत्ति उभरकर सामने आती है। तैत्तिरीय सहिता के 'नाभो ने दिष्ठ' के उपाख्यान में मनु सांवरणि[२१५] को अपने जीवनकाल में ही अपनी सम्पत्ति का विभाजन अपने पुत्रों के बीच करते हुए दिखाया गया।[२१६] वस्तुतः यह स्थायी आवासीय जीवन में पारिवारिक सम्पत्ति के चलते उठे हुए विवादों का परिणाम दृष्टिगोचर होता है। 'भ्रातृव्य'[२१७] शब्द के बदले हुए अर्थों ने पारिवारिक कलह को सतह पर

ला दिया। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे शत्रु के अर्थों में व्याख्यायित किया गया।[२१८] चचेरे भाई का शत्रु बन जाना पारिवारिक सम्पत्ति के बॅटवारे के ही अर्थों से समझा जा सकता है।

विवाह के सन्दर्भ में प्रो.जी.एस.पी. मिश्र की टिप्पणी महत्वपूर्ण है कि "तत्कालीन आर्थिक आवश्यकताओं तथा धार्मिक मान्यताओं के सन्दर्भ में विवाह सस्था का विशेष महत्व था।[२१९] उसी समय तीन ऋणों की अवधारणा प्रकाश में आती है[२२०] और विवाह के द्वारा पुत्रोत्पत्ति एक अनिवार्य कृत्य बन जाता है। क्योंकि पितृऋण से उऋण होने के लिए संतान आवश्यक थी। यज्ञ कर्म के संपादन एव सतान की इच्छा, विवाह का प्रमुख प्रेरक रही। बिना पत्नी के पुरूष अधूरा समझा जाता था[२२१] एवं यज्ञ की आहुतियॉ देने का अधिकारी नहीं रह जाता था।[२२२] ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लिखित है कि एक पुरूष की अनेक पत्नियॉ तो हो सकती है, परन्तु एक स्त्री के अनेक पति नहीं।[२२३] इसके दृष्टान्त भी कई मिलते हैं याज्ञवल्क्य की दो पत्नियॉ थी।[२२४] राजा हरिश्चन्द्र की सौ पत्नियों का उल्लेख है।[२२५] तैत्तिरीय ब्राह्मण में बहुपत्नीत्व को शुभ माना गया है।[२२६] परन्तु बहु पतिकता का निषेध।[२२७] क्या उसके अस्तित्व का प्रमाण माना जा सकता है। पति के लिए बहुवचन के प्रयोग के आधार पर एक प्रयास हुआ है बहु पतिकता को सिद्ध करने का[२२८] माताओं के नाम पर पुत्रों के संबोधन करने का भी एक तर्क दिया गया कि पिता की सही जानकारी के अभाव में माता के नाम पर पुत्र का नाम रखा गया।[२२९] परन्तु सम्मान एवं विद्वता तथा सामाजिक प्रतिष्ठा के अभिद्योतन स्वरूप ऐसा किया जाता रहा होगा। अन्तर्वर्णी विवाह भी अस्तित्व में थे, ऐतरेय ब्राह्मण का कवष ऐलूष[२३०] छान्दोग्य उपनिषद में शूद्र जानश्रुति का एक ब्राह्मण को कन्यादान[२३१], पंचविश ब्राह्मण में वत्स का प्रकरण[२३२] इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त है। विवाह में गोत्र की भूमिका पर स्पष्टतया कुछ कहा नहीं जा सकता।

ऋग्वैदिक काल की तुलना में उत्तरवैदिक काल में स्त्रियों की दशा में ह्रास के लक्षण परिलक्षित होते हैं कदाचित परवर्तीकालीन भेदपरक व्यवस्था की पृष्ठभूमि रच दी गई थी। अथर्ववेद में पुत्री के जन्म पर खेद व्यक्त किया गया है।[२३३] ऐतरेय ब्राह्मण में पुत्री को कष्ट का मूल बताया गया है।[२३४] उसे अनृत कहा गया[२३५] उसे एकमात्र मनुष्यों के दुःखों के लिए निर्मित[२३६] कहकर उसकी सारी सकारात्मक संभावनाओं को नकार देने का प्रयास किया गया यहाँ तक कि दाम्पत्य जैसे नितांत निजी सम्बन्धों को भी बहस में टांग दिया गया। समस्या

यह नहीं रही कि स्वादिष्ट-सुरूचिपूर्ण भोजन कैसे बने, समस्या यह हो गई कि भोजन पहले कौन करे- बाद में कौन करे। पति जब स्वामी माना गया, पत्नी के शरीर पर उसका पूर्ण स्वत्व निर्धारित किया गया[२३७] तो जाहिर है पत्नी को पति यानी स्वामी के बाद ही खाना चाहिए।[२३८] शतपथ ब्राह्मण में उसे शूद्र, कुत्ते और काले पक्षी के साथ परिगणित करते हुए उन्हें देखने से मना किया गया है।[२३९] मैत्रायणी संहिता में जहॉ स्त्री को पासा एव सुरा के साथ तीन बुराइयों में गिना गया[२४०] वही विदथ नामक जनसभा में उनके जाने पर रोक लगाई गई।

परन्तु ठीक वहीं एक दूसरा चित्र भी उभर कर सामने आता है जिसमें स्त्रियों की स्थिति सम्मानजनक प्रतीत होता है। सबसे पहले शिक्षा तो अथर्ववेद में स्पष्टत· उन्हें ब्रह्मचर्य की अवधि पूरा कर लेने के बाद विवाह योग्य बताया गया है।[२४१] विवाह के बाद भी मैत्रेयी का आध्यात्मिक चिंतन एवं जिज्ञासा तत्कालीन समाज में स्त्री शिक्षा के काफी ऊँचे स्तरों का बोधक है।[२४२] गार्गी की विद्वता एवं शास्त्रार्थ में उसकी वक्तृता देखकर याज्ञवल्क्य जैसे दार्शनिक हतप्रभ रह गए थे।[२४३]

वस्तुत· कृषि प्रधान समाजों में स्त्रियों की स्थिति उनकी शारीरिक क्षमता के कारण निम्नतर होती जाती है हल और फावड़े लेकर पुरूषों की बराबरी उनके लिए संभव नहीं हॉ यहां उनकी मांग बदले हुए सन्दर्भों में बनी रहती है इसलिए कि वे पुत्र के रूप में योद्धा एवं पशुपालक पैदा करती हैं।[२४४] तैत्तिरीय संहिता में विधवा पुत्र का उल्लेख शायद विधवा विवाह की ओर संकेत करता है क्योंकि पति की मृत्यु के बाद देवर से विवाह संभव था। सती प्रथा का कोई साक्ष्य नहीं पाया जाता।

खान-पान, वेशभूषा, अलंकरण, आमोद-प्रमोद एव सामान्यतया प्रचलित विश्वास रीति-रिवाज एवं शिष्टाचार के सम्बन्ध में कोई उल्लेखनीय वैशिष्ट्य के दर्शन तो नहीं होते परन्तु बढ़ती हुई आर्थिक गतिविधियों ने उपभोग एवं उपभोग की प्रकृति दोनों को प्रभावित किया होगा जो सम्भवत· बाद के कालों में ही स्पष्टतः पहचाने गए होंगे अतः अगले अध्याय में एक अनुशीलन उनका भी होगा।

संदर्भ संकेत एवं टिप्पणियाँ

१ प्रो जी एस पी मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था, पृ० - ४५

२ प्रो जी एस पी मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था, पृ० - ४५-४६

३ ऋग्वेद, १० ६० १२,
'ब्रह्मणोस्य मुखासीद् वाहूँ राजन्य कृत
उरूतदस्य यद्वैश्य पदभ्या शूद्रोऽजायत्'

४ ऋग्वेद, ३ ४३ २
(यथा आ याहि पूर्वीरति चर्षणीरा अर्य)

५ ऋग्वेद, ८ ३५ १६-१८

६ रोमिला थापर, भारत का इतिहास, पृ०- २६

७ ऋग्वेद १० ६० १२

८ रोमिला थापर, भारत का इतिहास, पृ०- २६

९ प्रो. आर एस शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ०-४७

१० वैदिक इडेक्स, २, २५०

११ ऋग्वेद, ३ ३४ ६
(हत्वी दस्यून्प्रार्यवर्णमावत्) १ १२ ४ यो दासवर्णमूधर गुहाक

१२ जी एस पी. मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थ व्यवस्था, पृ०-५८

१३ वही, पृ०-५६

१४ ऋग्वेद, ६ २ ८०

१५ ऋग्वेद, १ १३० १०

१६. सच्चिदानन्द मिश्र, प्राचीन भारत में ग्राम एव ग्राम्य जीवन, पृ०-१६५-१७१.

१७ जी एस पी. मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थ व्यवस्था, पृ०-५६

१८ ऋग्वेद, ८ २५. ८

१६ ऋग्वेद, ५ ६७ १

२० सच्चिदानन्द मिश्र, प्राचीन भारत में ग्राम एव ग्राम जीवन, पृ०- १७८

२१ ऋग्वेद, १ २५ १

२२. ऋग्वेद, ७.७.४

२३ ऋग्वेद, ७.३६.२ ३. १३. ५.

२४. आर.एस शर्मा, मैटीरियल कल्चर एण्ड सोशल फार्मेशन्स इन एन्श्येन्ट इडिया, पृ० - ४६

२५ ऋग्वेद, ६ ११२ ३

२६. ऋग्वेद, १०.६७ २२

२७ ऋग्वेद, ३ ४३ ५.

२८. ऋग्वेद, १०.३६ १४

२६ राम शरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ०-४८

३०. पुनर्वितरण सिद्धान्त जनजातियों के सदस्यों द्वारा उत्पादित या एकत्रित सामग्री का अपने प्रमुख को सौंप दिया जाना परिधि से केन्द्र की ओर सकेन्द्रण कहा जाता है। पुनश्च समारोहों के अवसर पर प्रमुख द्वारा अपने सदस्यों के बीच उस सामग्री को समान रूप से वितरित कर दिया जाना 'पुनर्वितरण' हैं।

३१. ऋग्वेद, ७ ४० १, २.१.४

३२. आर एस. शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाएँ, राजकमल प्र०, पृ०- २१४

३३ आर एस. शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाएँ, पृ०- ८७

३४ ऋग्वेद, १० १७६ ६

३५ ऋग्वेद, ३ ' ३ ६, २ ४२ ३

३६. ऋग्वेद, ७ ,६ १६

३७ ऋग्वेद, १० १०६ ५
३८ ऋग्वेद, २ ३८ ८
३६ जी०एस०पी० मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था, पृ०-६०
४० ऋग्वेद विवाह सूक्त १० ८५
४१ ऋग्वेद, १ ११६ १६
४२ ऋग्वेद, १ २४ १२ - १५, ५ २ ७
४३ ऋग्वेद ७ १७ १७
४४ ऋग्वेद, ५ ८३ १
४५ ऋग्वेद, ५ ५८ ४
४६ रमानाथ मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज अर्थव्यवस्था एव धर्म, पृ०-११
४७ आर एस शर्मा, प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एव सस्थाएँ, पृ०-६१
सुवीरा जायसवाल, स्टडीज इन इण्डियन सोशल हिस्ट्री, ट्रेन्ड्स एण्ड प्रासपेक्ट्स इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू जिल्द ६, पृ०- ५३, ५५
४८ ऋग्वेद, १ ६२.११, ७ ७१ १
४६ ऋग्वेद, १ १२४ ७, ४ ३ २ १० ७१ ४,
५० सर्वदमन सिह, पोलिएट्री इन एन्श्येण्ट इण्डिया, १६७८
५१ द वैदिक, एज, पृ०- ३७४
५२ ऋग्वेद, १० १० १० में उस आदिम युग की बात कही गई है जब बहने भाई के साथ सम्बन्ध रखती थीं।
५३ पी एल भार्गव, इण्डिया इन दि वैदिक एज, पृ० २४३-४४
५४ ऋग्वेद, १० ८५ २१-२२
५५ ऋग्वेद, १ ५७१३, १ ११६ १
५६ अल्तेकर, द पोजीशन आफ वूमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ०- ५८
५७ ऋग्वेद, १.१०६ २; ८.२ २०
५८ ऋग्वेद, ६ २८ ५; १०.२७ १२.
५६ ऋग्वेद, १० ८५
६० ऋग्वेद, १० ८५.४२
६१. ऋग्वेद, १० ८५.४६ साम्राज्ञी श्वसुरेभव साम्राज्ञी श्वश्रवाँ भव
६२. ऋग्वेद, १० ४० २.
६३ एन.के दत्त, द ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ कास्ट इन इण्डिया, पृ०-६४
पी एन प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृ०- २८७-२८८.
६४ ऋग्वेद, ८ १३४
६५. ऋग्वेद १.१२६
६६ ऋग्वेद, ८ ६१ १
६७ ऋग्वेद १० २७.१२' भद्रा वधूर्भवति सा मित्र बनुते जने चितृ)
६८ ऋग्वेद, १ ६६.३
६६ ऋग्वेद, ३ ५३.४.
७० ऋग्वेद, १ ३७.३ . अनवद्या पति जुष्टेन नारीं
७१. जी.एस पी मिश्र, पूर्वोद्धृत, पृ०-६५
७२ ऋग्वेद, १०.२५ २६.
७३ ऋग्वेद, १०.१८.८
७४ ऋग्वेद, १०.१८ ७- ८, १० ४० २
७५ ऋग्वेद, ७ १०३ ५.
७६ ऋग्वेद, १०.१०६.५
७७. ऋग्वेद, १०.७१
७८ ऋग्वेद, १० १३६.२,४,५

७६ ऋग्वेद, ७ १०३
८० ऋग्वेद, १ १२६ २, ११
८१ ऋग्वेद, ७ १०३
८२ रोमिला थापर, भारत का इतिहास, पृ० - ३०
८३ ऋग्वेद, १ १०६ ३, १ १३४ ६, ८ २ ६
८४ ऋग्वेद, १० ४५ ६ अनूप घृतवन्त
८५ ऋग्वेद, १ १८७ ६-१०
८६ ऋग्वेद, १० ७१ २
८७ डा पी एल भार्गव, पूर्वोद्धृत, पृ०-८०
८८ ऋग्वेद, ८ १०१ ५-१६
८६ ऋग्वेद, ८ ४३ ११, १० ६८ ३
६० जी एस पी मिश्र, पूर्वोद्धृत, पृ०- ६८-६६
६१ ऋग्वेद, ७ ८६ ६
६२ ऋग्वेद, ८ २ १२ पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्।
६३ जी एस पी मिश्र, पूर्वोक्त, पृ०-६८
६४ ऋग्वेद, १ ६३ ६
६५ ऋग्वेद, ३ ५३ ६
६६ ऋग्वेद ५ २७ ५ (सोमा द्रव त्रयाशिर)
६७ ऋग्वेद ८ १८
६८ जी एस पी मिश्र, पूर्वोक्त, पृ०-६६
६६ ऋग्वेद, १ ३४ १
१०० ऋग्वेद १ १४०. ६ १ १६२ १६
१०१ ऋग्वेद १ ६५ ७
१०२ ऋग्वेद, १ २५ १३
१०३ ऋग्वेद ४ २२ २
१०४ ऋग्वेद १ १२६ ८
१०५ ऋग्वेद, १ १६.१०
१०६ ऋग्वेद १० १३६ २' मुनयो बात रसना पिशगा बसते मला
१०७ ऋग्वेद, १ ६२ ४, २ ३ ६
द्र वैदिक एज, पृ०-३६७
१०८ ऋग्वेद, २ ३ ६, ४ ३६ ७, ७ ३४ ११
१०६ ऋग्वेद, १० ८५ ३४
११० ऋग्वेद, ८.७८ ३.
१११ ऋग्वेद, २ ३३.१०
११२ ऋग्वेद, १ ६६.१०
११३ ऋग्वेद, १.१२२ १४, मणिग्रीव,
११४ ऋग्वेद, १० १८४ ३
११५ ऋग्वेद, १.१६६ ६, ७ ५६ १३.
११६ ऋग्वेद, १० ८५ ८
११७. ऋग्वेद, १० ११४ ३, चतुष्कपर्दा युवति· सुपेशां
११८ ऋग्वेद, १० १४८ ४
११६ ऋग्वेद, १ १५४ ८
१२० ऋग्वेद, २ ४३ १
१२१ ऋग्वेद, १ २२ ५.
१२२ ऋग्वेद, १ २८ ५

१२३ ऋग्वेद, २ ४३ ३
१२४ ऋग्वेद, १० १३५ ७
१२५ ऋग्वेद, १० ७६ ६
१२६ ऋग्वेद, १० ३४
१२७ शतपथ ब्राह्मण, १ ४ १ १०, १४-१६
१२८ राय चौधरी, पालिटिकल हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ०-२१-६४
१२९ सच्चिदानन्द मिश्र, पूर्वोद्धृत, पृ०-३६
१३० शतपथ ब्राह्मण, ६ ८ ५ १-१२
१३१ राम शरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाएँ, पृ०-२१५
१३२ राम शरण शर्मा, पूर्वोक्त, पृ०-११२
१३३ राजक्षत्र मिश्र, अथर्ववेद में सास्कृतिक तत्व १९६२, पृ०-८९-९०
१३४ वैदिक इडेक्स, जि -१, पृ०-४३२
१३५ वैदिक इडेक्स, जि -१, पृ०-४३२
१३६ आर एस शर्मा, द लैटर वैदिक फेज एण्ड दि पेन्टेड ग्रे वेयर कल्चर, हिस्ट्री एण्ड सोसाइटी, देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय (स०) कलकत्ता, पृ०-१३५
१३७ शर्मा, आर एस , भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाएँ, पृ -९७
१३८ सिविलाइजेशन्स आफ दि इण्डस वेली एण्ड वियॉड, कैंब्रिज, १९६६ पृ -१०२
१३९ शर्मा, आर.एस , पूर्वोक्त, पृ -९७
१४० एस सी भारद्वाज, आस्पेक्ट्स आफ ऐन्श्येण्ट इण्डिन टेक्नोलाजी, दिल्ली, १९७९, पृ -१५४
१४१ शर्मा आर एस , पूर्वोक्त, पृ -११३
१४२ कौसाम्बी, डी डी., प्राचीन भारत, साकलिया तथा अन्य (स.) पृ.- ७१-७२
१४३ शर्मा, आर.एस पूर्वोक्त, पृ -११४
१४४ रमानाथ मिश्र प्राचीन भारतीय समाज अर्थव्यवस्था एव धर्म पृ० २४
१४५ पुरू एव भारत मिलकर 'कुरू' तुर्वश एव क्रिवि मिलकर 'पाचाल' एव कई ब्राह्मण ग्रन्थों में कुरू एव 'पाचाल' के भी युग्म मिलते हैं
१४६ कीथ, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, १३०
१४७ शर्मा, पूर्वोक्त, पृ -१२७
१४८ शर्मा, पूर्वोक्त, पृ -१२७.
१४९ शर्मा, आर.एस. पूर्वोक्त, पृ -१२६-१२७.
१५० शर्मा, आर एस पूर्वोक्त, पृ -१२६
१५१ ऐतरेय ब्राह्मण, ८.१६
१५२ शतपथ ब्राह्मण, ५ २ १.१३
१५३ ऐतरेय ब्राह्मण ७ ३ १४
१५४ विजय बहादुर राव, उत्तरवैदिक समाज एव सस्कृति, पृ -१६४
१५५. ऐतरेय ब्राह्मण, ७ २९
१५६ शतपथ ब्राह्मण के इस सन्दर्भ के लिए देखें-सच्चिदानन्द मिश्र की "प्राचीन भारत में ग्राम और ग्राम्य जीवन", पृ.-९६
१५७ शतपथ ब्राह्मण १.२ ४ १२.
ब्राह्मण को 'एहि', क्षत्रिय को 'आगच्छ', वैश्य को 'आद्रव' और शूद्र को 'आधाव' का सम्बोधन।
१५८ शतपथ ब्राह्मण २ १ ३४ ब्राह्मण 'भू' से, क्षत्रिय 'भूव' से वैश्य 'श्व' से प्रारम्भ करे।
१५९ शतपथ ब्राह्मण, ५ ३ २ ११ ब्राह्मण को पलाश की लकडी का, क्षत्रिय को नय ग्रोध तथा वैश्य को अश्वत्य की लकडी का प्रयोग विहित है।
१६० वही १३ ८ ३ ११
१६१ शतपथ ब्राह्मण १.२.२ ३, ४ १ ४ ६, २ ७ ३-१२
१६२ वाजसनेयी सहिता (१.१२ १)

१६३ एतरेय ब्राह्मण, ७ २६ ४
१६४ काठक सहिता २८ ५
१६५ एतरेय ब्राह्मण, ८ १२-१४
१६६ शतपथ ब्राह्मण, ५ ४ ४-७,
१६७ एतरेय ब्राह्मण, ७ २६
१६८ पचविश ब्राह्मण, ६ १ १०
शतपथ ब्राह्मण, ५ २ १ १७, ८ ७ १ २, २ २
१६९ शतपथ ब्राह्मण, १२ ७ ३ १२
१७० वैदिक इडेक्स, १० ४ ३ २०
शतपथ ब्राह्मण, १२ ७ ३ १५
१७१ शतपथ ब्राह्मण, ७ १ १ ५
पी वी कॉणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्रा जिल्द-२ भाग-१, पृ -४१
१७२ शर्मा आर एस प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाए, पृ -११७
१७३ तैत्तिरीय सहिता, ७ १ १ ५
१७४ शतपथ ब्राह्मण, ६ १ २ २५
१७५ ऐतरेय ब्राह्मण, ८ १७
१७६ वृहदाण्यकोपनिषद, १ ४ ११
१७७ शतपथ ब्राह्मण, ६ १ २ २५
१७८ तैत्तिरीय सहिता २.५ १० १
शतपथ ब्राह्मण ६ ४ ४ १३
पचविश ब्राह्मण २ ८ ११
१७९ तैत्तिरीय सहिता, २ ५ १० ३१
१८० ऐतरेय ब्राह्मण, १ ६
तैत्तिरीय सहिता, १ १ ४ ८१
१८१ ऐतरेय ब्राह्मण, ४३ ३
१८२ शतपथ ब्राह्मण, ४.३ ३.१५.
१८३ शर्मा आर एस , प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाए, पृ.-१२६
१८४ शतपथ ब्राह्मण, ५ ४ ३ ८.
१८५ शतपथ ब्राह्मण, ६ १ २ २५
१८६ शर्मा, आर एस. प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाएँ, पृ -१२७
१८७ वही, ११७
१८८ देखें रामशरण शर्मा की पुस्तक भौतिक प्रगति
१८९ एव सामाजिक सरचनाएँ की पृ स - ११७ पर
१९० सदर्भ स ४७ ४८ ४९
१९१ आर पी चादा, इण्डो आर्यन रेसेज, पृ -३६
१९२ आर एस शर्मा, शूद्राज इन ऐन्श्येण्ट इण्डिया, पृ -३३
१९३ द्र जी.एस पी मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थ व्यवस्था, पृ.-१००
१९४. द्र राव विजय बहादुर उत्तरवैदिक समाज एवं सस्कृति, पृ -१०८-११.
१९५ द्र.जी एस पी मिश्र, पूर्वोक्त, पृ -१०१
१९६ राव, विजय बहादुर, पूर्वोक्त, पृ.-१०९
१९७ द्र कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ -८६, १२८-२९
द्र वैदिक एज , पृ -१०९
१९८ द्र.जी एस पी. मिश्र, पूर्वोदधृत, पृ.-१०२.
१९९ ऐतरेय ब्राह्मण, ७ २९
२०० कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ -१२६

२०१ आर एस शर्मा, शूद्राज इन ऐन्श्येण्ट इण्डिया, पृ - ६७-६८
२०२ विजय बहादुर राव, पूर्वोक्त, पृ -११५
२०३ शतपथ ब्राह्मण, ६ ४ ४ ६, ३ १ १ १०,
२०४ पचविश ब्राह्मण, ६ १ ११
२०५ जैमिनीय ब्राह्मण, १ ६ ८ ६-६
२०६ मैक्डावेल और कीथ, वैदिक इडेक्स भाग-२, पृ - ३८६
२०७ पचविश ब्राह्मण, ६ १ ११
२०८ द्र - रमानाथ मिश्र, पूर्वोक्त, पृ - २८
२०६ रमानाथ मिश्र, पूर्वोक्त, पृ - २८
२१० वही - पृ - २८
२११ अथर्ववेद ३ ३० १-३
''सहृदय सामनस्य विद्वेष कृष्णौमि व अन्यो अन्यमभिर्हयत वत्स जातमिवाहन्या,
अनुव्रत पित्रु पुत्रों भ्राता भवतु समना
जाया पत्ये मधुमति वाच वादतु शान्ति वाम्
मा भ्राता भ्रातर द्विक्षन्मा स्वसार मुत स्वसा,
सम्यच सव्रताभूत्वा वाच वदत् भद्रया,
२१२ ऐतरेय ब्राह्मण, ७ १२ १८
२१३ कठोपरिषद १
२१४ जेमिनीय ब्राह्मण, ३ १५६
२१५ मनु - यह मनु स्वायभू नहीं अपितु ऋग्वेद के नाभोनेदिष्ठ सूक्त में वर्णित मनु सावरणि है जो कि एक ग्रामणी के रूप में वर्णित है,
२१६ तेत्तिरीय सहिता, ३ १ ६ ४
२१७ राव, विजय बहादुर, पूर्वोक्त, भ्रातृव्य का अर्थ चचेरा भाई किया गया है.
पृ - २१८ अथर्ववेद, १० ३ ६ - इसे बान्धवों में गिना गया
२१८ शतपथ ब्राह्मण, १ १ १ २१
पचविश ब्राह्मण, २ ७ २, १२ १३ २१
२१६ जी एस पी मिश्र, पूर्वोक्त, पृ. - १०७
२२०. पी पी कॉणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्रा, जि २ भाग-१ पृ २७०
२२१ शतपथ ब्राह्मण, ५.२ १ १०
२२२ वही, ५.१ ६.१०
२२३ ऐतरेय ब्राह्मण, १२ ११
२२४ वृहदारण्यकोपनिषद, ४.५.१-२
२२५ ऐतरेय ब्राह्मण, ३३ १
२२६ तैतिरीय ब्राह्मण, ३ ८४.
२२७ वृहदारण्यकोपनिषद, ४ ५.१-२
२२८ अथर्ववेद, १४ १ ६१
२२६ वृहदारण्यकोपनिषद, ६ ४ २० (गार्गी पुत्र)
२३० ऐतरेय ब्राह्मण, ८.१, कवष ऐलूष आर्य पिता तथा दासी माता का पुत्र
२३१ छान्दोग्य उपनिषद, ४ २ २, शूद्र राजा द्वारा ब्राह्मण को कन्यादान का सदर्भ,
२३२ पचविश ब्राह्मण, १४ ६.६- शूद्र स्त्री का पुत्र होने के सन्देह में वत्स को अग्नि परीक्षा से गुजारने के सन्दर्भ में,
२३३ अथर्ववेद, ६ ११.३
२३४ ऐतरेय ब्राह्मण, ७ १५
२३५ शतपथ ब्राह्मण, १४ १ १ ३१
२३६ जेमिनयी ब्राह्मण, १ ६८.
२३७. शतपथ ब्राह्मण, ४ ४.२ १३

२३८ वही, १ १ ४ १६

२३९ वहीं, २ ८ ३, स्त्री शूद्र स्वाकृष्ण शकुनिस्तानि न प्रेक्षते

२४० द्र प्राचीन भारत का इतिहास, स झा एव श्रीमाली, कृष्णमोहन श्रीमाली का लेख - वैदिक साहित्य में प्रतिबिम्बित भारत पृ - १३५

२४१ अथर्ववेद, ११ ५ १८ 'ब्रह्मचर्येन कन्या युवान विन्दते पतिम्'

२४२ वृहदारण्यकोपनिषद, ४ ५ ४ सा हवाच येनाह नामृता स्या किमह तेन कुर्या यदेद भगवान वेदतदेव मे ब्रूहि'

२४३ बृहदारण्यकोपनिषद, ३ ६

२४४ अथर्ववेद, ७ ४६ १ २४४

२

द्वितीय अध्याय

पूर्व अधीत कालीन प्रावस्था के आर्थिक आधार

द्वितीय अध्याय

पूर्व अधीतकालीन प्रावस्था के आर्थिक आधार

प्रथम अध्याय की ही भॉति इस द्वितीय अध्याय को भी दो भागों में व्यवस्थित कर इसके विषयवस्तु को विश्लेषित किया गया है। प्रथम उपभाग, ऋग्वैदिक अर्थ सरचना के अनुशीलन का एक प्रयास है तो द्वितीय उपभाग उत्तरवैदिक अर्थ संयोजन के विश्लेषण का।

वस्तुतः ऋग्वैदिक अर्थ संरचना को जानने के क्रम में उसकी पृष्ठभूमि से थोड़ा बहुत परिचय आवश्यक एवं उपयोगी प्रतीत होता है। भारत का आर्थिक इतिहास कांस्य प्रौद्योगिकी की देन कहा जा सकता है। शहरी हडप्पा संस्कृति के विकसित नगर केन्द्रों के चतुर्दिक हड़प्पाई मृदभाण्डों का विस्तृत वितरण मजबूत कृषि आधार का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। २५०० ई.पू. से लेकर १००० ई.पू. तक कोई सर्जनात्मक मौलिक परिवर्तन नहीं दिखाई देता, न कहीं प्रौद्योगिकीय प्रगति, न कहीं किसी नवीन कृषि क्षेत्रों की खोज। ऐसे में ग्रामीण आधार शहरी ढांचे को कितनी देर तक सम्पोषित करता रहता और कर भी नहीं सका।

ऋग्वैदिक समाज तो अपनी खनाबदोश आदतों, पशुपालक प्रवृत्ति एवं सतत् सघर्षशीलता के कारण उत्पादन, विनिमय वितरण एवं उपभोग न तो निश्चित कर सकता था और न ही कर सका, व्यापक युद्धरतता में व्यापार के लिए अपेक्षित अधिशेष के उत्पादन के लिए शायद समय ही नहीं था। वस्तुत· ऋग्वैदिक अर्थव्यवस्था निर्वाह की अर्थव्यवस्था प्रतीत होती है। जितनी सरल उतनी ही रोचक। ऋग्वैदिक लोगों के बारे में यदि उनकी युद्धरतता एक सच है तो उनकी अर्थ संरचना में पशुचारण का महत्व एक दूसरा सच है। कृषि प्रचलित तो थी परन्तु पर्याप्त प्रसरित नहीं। अर्थव्यवस्था की नींव तो पशुधन ही था। 'गोत्र' पुंगब', . 'गोचर' जैसे शब्द शायद इसकी सबसे सही व्याख्या करते हैं।[१] ऋग्वेद में वर्णित पशुओं में 'गाय' का सर्वाधिक महत्व है।[२] एक उल्लेख तो ऐसा भी है जिसमें कहा गया है कि जिस घर में गायें नहीं हों उस घर में समृद्धि नहीं आ सकती।[३] गाय सूचक 'गो' शब्द अपने विविध रूपों में १७६ बार वंश मण्डलों में उल्लिखित है। 'गविष्टि' अर्थात् गायों की गवेषणा को युद्ध का पर्याय ही समझा जाता था।[४] गोषु[५], गव्यत, गव्यु[६] तथा गवेषण इत्यादि सभी शब्द युद्ध के लिए प्रयुक्त होते थे और 'गो' से ही व्युत्पन्न थे। 'रयि' यानि 'सम्पत्ति'

की गणना में मुख्यतः गाय-बैल ही थे।[७] शायद इसीलिए धनी लोगों को 'गोमत' कहा गया है।[८] पुत्री के लिए 'दुहितृ' अर्थात् दुहने वाली शब्द के प्रयोग से गाय के महत्व का परिवार के सन्दर्भों में, भी आकलन किया जा सकता है। असल में वे गाय से इतने अभिभूत थे कि 'भैंस' को भी 'गो' शब्द से ही व्युत्पन्न संज्ञाओं से अभिहित किया जैसे 'गौरी'[९] और 'गवल'[१०]। गायों के स्वामित्व के निश्चित दिग्दर्शन हेतु उनके कानों पर चिन्हाकन किया जाता था यह सम्भवत इसीलिए किया जाता था कि गायों की चोरी हो जाने की आशका बनी रहती होगी।[११] 'गविष्टि' को इन अर्थों में भी देखा जाना चाहिए। गाय के चमडे से बने विविध पात्रों में सोम रस, जल एवं घी इत्यादि रखा जाता रहा होगा।[१२] 'बैलों' की भी तत्कालीन अर्थव्यवस्था में बड़ी उपादेयता थी। यह प्रमुख भारवाही था एवं खेती-बारी में हल चलाने के कारण और भी उपयोगी था। यज्ञों में इसका मास भी अज्याहुतियों में शामिल रहता था। सम्भवतः यह इन्द्र को विशेष प्रिय था।[१३] पालतू पशुओं में घोड़ा सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। कुछ तो अपनी शक्ति एवं गति के लिहाज से, कुछ एक प्रमुख भारवाही[१४] होने के नाते और कुछ हलों को खींचने के लिए[१५] परन्तु सर्वाधिक इसलिए क्योंकि ये ही आर्यों को रथारूढ़ करते थे। वस्तुतः अपने पूर्ववर्तियों पर आर्यों को जो निर्णायक बढत हासिल थी वह घोड़ों के ही कारण थी। इसी के चलते उनकी गतिशीलता पैदल से पांच गुनी बढी हुई थी।[१६] रथों ने उन्हें दुर्जेय बना दिया था और घुड़सवारी ने बेहतर आवागमन का एक नया विकल्प खोल दिया था।

भेड़, बकरी[१७] और गधे[१८] भी पालतू जानवरों में शामिल थे। गधा भारवाही था तो भेंड़ एवं बकरियाँ भोज्य पदार्थों के रूप में तो उपयोगी थी ही, इनसे वस्त्र भी प्राप्त किया जा सकता था। गंधार की भेड़े अपनी ऊनों के लिए बड़ी शोहरत रखती थी।[१९] भैंसे[२०] भी अपनी दूध, जो कि आर्यों के भोजन में बड़ा महत्व रखता था, के कारण काफी संख्या में पालतू बनाई गयी थी। ऊँट एक अन्य लोकप्रिय पालतू पशु प्रतीत होता है।[२१] एक जगह कुत्तों की चर्चा है जो चौकीदारी, रात में पहरेदारी और पशुओं की रक्षा आदि करते थे।[२२] बकरों द्वारा एक छोटी गाडी खींचने का उल्लेख बड़ा ही रोचक बन पड़ा है।[२३]

हाथी के बारे में यह प्रस्तावित किया गया है कि यह तत्कालीन जीवन में अपेक्षाकृत कम परिचित पशु था।[२४] क्योंकि एक तो इसके लिए शब्द बहुप्रयुक्त नहीं है, केवल दो स्थानों

पर और वह भी 'हस्तिमृग' का प्रयोग। परन्तु हाथी के लिए 'इम' तथा 'वारण' शब्दों का भी प्रयोग हुआ है और 'अकुश' द्वारा उसे नियन्त्रित किये जाने का भी वर्णन होता है।[२५] ऋग्वेद के मूल भागों में सामूहिक पशुचारण के कई उल्लेख पाये जाते हैं।[२६] जिसमें समान वितरण के भी साक्ष्य दृष्टिगोचर होते हैं तथा इसमें देवता भी हिस्सा लेते थे। देवताओं द्वारा भी साथ बैठकर पशुधन के अपने हिस्सों का बंटवारा किये जाने को विश्वसनीयता इसलिए भी मिल जाती है कि एक जगह देवताओं को भी गायों से उत्पन्न बताया गया है।[२७] असल में यायावरीय जीवन में अचल सम्पत्ति से अधिक चल सम्पत्ति ही आकर्षित करे तो कोई आश्चर्य नहीं। पशुधन के प्रति आर्यों के आकर्षण का यह भी एक कारण समझ में आता है।

'आर्य'[२८] शब्द 'अर्' धातु से निष्पन्न हुआ है और अर् का अर्थ कृषि करना होता है, परन्तु अजीब विरोधाभास है कि उन्हीं के आदि ग्रन्थ के मूल भागों में कृषि कर्म नगण्य प्रतीत होता है। कृषि के महत्ता को सन्दर्भित करने वाले मात्र तीन शब्द पाये गये हैं। 'उर्दर, धान्य एवं वपन्ति[२९] ऋग्वेद के कुल १०,४६२ श्लोकों में से मात्र २४ ही कृषि से सम्बन्धित कोई वर्णन दे पाते हैं।

'कृष' जिसका अर्थ कृषि करना, जोतना लगाया गया है ऋग्वेद के वंश मण्डलों में दुर्लभ है। 'कृष्टि' शब्द पूरे ३३ बार व्यवहृत हुआ है परन्तु जन के अर्थ में जैसे पंचकृष्ट्यः अर्थात पॉचजन।[३०] पुनश्च भाषायी साक्ष्यों को आधार बनाकर प्रो० शर्मा 'कृष्टि' को कृषि कर्म से सम्बद्ध होने की धारणा को अमान्य करते हैं।[३१]

इसी प्रकार ऋग्वेद में 'चर्षणि' शब्द के बारे में यह स्थापना कि यह 'कृष' से व्युत्पन्न है, तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती।[३२] ऋग्वेद के 'पंचचर्षयणः' का तात्पर्य अगर पाँच भ्रमणकारी जनों से लगाया जाय[३३] तो 'चर्षणि' को 'चर' से निष्पन्न मानना ज्यादा युक्तियुक्त प्रतीत होता है। 'चर' का अर्थ चलना या भ्रमण करना होता है।[३४] 'हल' शब्द ऋग्वेद में उपलब्ध नहीं है। हाँ इसके बोधक शब्द 'लाङ्गल' तथा सीर[३५] प्राचीनतम अंशों में जरूर आये हैं। हल के फाल[३६] एवं तद्निर्मित रेखाओं सीता[३७] तथा सूनु की चर्चा भी ऋग्वेद में की गयी है। हलों में छः आठ या बारह तक की सख्या में बैल जोड़े जाते थे।[३८] जुते हुए खेत 'क्षेत्र'[३९] तथा उपजाऊ भूमि को उर्वरा[४०] कहा जाता था।

कुदाल (खनित्र)[४१] दारात (दात्र[४२] व सृणी[४३]) तथा कुल्हाणी इत्यादि कृषि कर्म के कुछ सहायक औजारों के नाम हैं। कटाई के बाद गट्ठर बनाने की प्रक्रिया को 'पर्श'[४४] के नाम से जाना जाता था। तदुपरात उसे खलिहान (खल) में इकट्ठा करके मड़नी की प्रक्रिया शुरू की जाती।[४५] चलनी (तितऊ) और सूप (सूर्प) का भी उल्लेख है जिससे अन्न को भूसे से अलग किया जाता था।[४६] 'धान्यकृत' जो ओसाई का कार्य करता था उसकी सज्ञा थी।[४७] माप-तौल का पात्र 'उर्दर' कहा जाता था।[४८]

साधारणतया कृषक वर्ग वर्षा पर ही निर्भर रहा करता था। वर्षा के लिए कई जगहों पर प्रार्थनायें किये जाने की बात[४९] इसे और भी स्पष्ट करती है। परन्तु खनित्रभाः आप[५०] की अभिव्यजना कृत्रिम सिंचाई के प्रयासों का एक तरह से उद्घोष ही है, कुएं का जल सिंचाई का प्रमुख साधन था।[५१] कुएं (अवट) से सिंचाई का पानी खींचने के लिए चरष (कोष), वरत और गरारी (अश्मुचक्र) का प्रयोग किया जाता था[५२] ऋग्वेद में कुल्याओं (नहरों) का भी जिक्र आता है।[५३]

खाद्यान्नों में 'यव' और धान्य का उल्लेख प्रायः आता है[५४] यह उनके द्वारा उत्पन्न प्रमुख अनाज जो था। यह या तो विभिन्न प्रकार के अनाजों का सामान्य नाम था या फिर बहुत सम्भव है वाद के कालों में प्रयुक्त 'जौ' का ही सूचक हो, परन्तु ऋग्वेद के कुल १५ उल्लेखों में से मात्र तीन ही मूल अंशों में पाया जाता है।

'धान्य' धान शब्द का उल्लेख कुछ मूल अंशों में भी पाया गया है।[५५] परन्तु यह इतना सामान्य, अस्पष्ट एवं व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है कि किसी अन्न विशेष से इसका समीकरण थोड़ा कठिन जान पड़ता है। चावल का सम्भवतः ऋग्वेद में कोई उल्लेख नहीं है।[५६] खेती को नुकसान पहुँचाने वाले तत्वों के प्रति भी ऋग्वैदिक लोग सचेत थे, अतिवृष्टि एवं अनावृष्टि के खतरों के प्रति लोग सचेत थे। अन्न के शत्रुओं के रूप में कीड़ों, चिड़ियों एवं टिड्डयों आदि का उल्लेख है।[५७] फसलों की सही सलामत प्राप्ति के लिए 'सीता' की स्तुति भी की गयी है।[५८]

ऋग्वैदिक अर्थव्यवस्था में कृषि कर्म के महत्व के विश्लेषण से एक तथ्य उभरकर सामने आता है कि कम से कम प्रारम्भिक चरणों में पशुपालन को कृषि पर बढ़त हासिल

थी। इसकी पुष्टि में एक अत्यत रोचक निष्कर्षण, कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था की प्रवृत्ति को लेकर, प्रस्तुत किया जा सकता है। ऋग्वैदिक देवमण्डल में देवताओं की अपेक्षा देवियों की स्थिति हीनतर थी जो कृषि प्रधान अर्थ व्यवस्था के सरचनागत सिद्धान्तों के प्रतिकूल बैठती है। इस काल के उत्तरार्द्ध में कृषि ने अपना क्षेत्र विस्तार किया होगा और प्रतिष्ठा हासिल की होगी, क्योंकि बहुत सम्भव है कृषि भी मनुष्यों की समृद्धि में सहायक हो सकती है, इसका ज्ञान हो गया होगा। एक स्थान पर अपाला को अपने पिता की खेती की समृद्धि के लिए प्रार्थनारत दिखाया गया है।[५९] अन्यत्र अपना सर्वस्व हार चुके जुआरी से कृषि कर्म अपनाने को कहा जाता है जिससे उसे पत्नी, धन और पशु की पुन प्राप्ति हो सके।[६०] बहुत सम्भव है कि कृषि का व्यापक प्रचार-प्रसार अनार्यों के सम्पर्क के कारण हुआ हो। शायद इसी कारण ऋग्वैदिक आर्य इसे विजित लोगों का कर्म कहा करते थे।[६१]

ऋग्वेद में वाणिज्य एवं व्यापार के विस्तृत सिलसिले का पता चलता है यह दूरस्थ प्रदेशों एवं आर्येतर जन-जातियों से होता था या अन्तर्वर्ती प्रदेशों में भी इसके बारे में कुछ भी निश्चयात्मक साक्ष्य नहीं मिलता।

ऋग्वेद में व्यापारी के लिए 'वणिक' शब्द व्यवहृत होता है[६२] और धनार्जन हेतु परदेश गमन की सूचना[६३] को यदि समीकृत करें तो एक तो व्यापार कर्म की निश्चयात्मक पुष्टि होती है और दूसरी, दूरस्थ प्रदेशों से व्यापार भी साबित होता है। वस्तु विनिमय ही क्रय-विक्रय में प्रचलित प्रणाली थी परन्तु 'गाय' को हम मूल्य की एक इकाई के रूप में व्यवहृत पाते हैं[६४] निष्क नामक एक आभूषण भी मूल्य की एक निश्चित इकाई बनता जा रहा था क्योंकि सौ अश्वों के साथ सौ निष्कों की प्राप्ति[६५] के सन्दर्भ में सौ हारों का व्यावहारिक औचित्य नहीं जान पड़ता। ऋण का प्रचलन हो गया था[६६] एक जगह आठवें या सोलहवें भाग को व्याज या मूल किसी भी रूप में लौटाने का वर्णन है।[६७]

ऋग्वैदिक आर्यों के सामुद्रिक व्यापार के बारे में बड़ा मत वैभिन्य है। कीथ महोदय ऋग्वैदिक आर्यों के समुद्र सतरण की किसी भी सम्भावना से इन्कार करते हैं[६८] तो जिमर लैसेन, मैक्समूलर तथा वैदिक इण्डेक्स के लेखकगण समुद्र संतरण से ऋग्वैदिक आर्यों को पूरी तरह वाकिफ बताते हैं। ए.डी. पुसलकर प्रभृति विद्वान भी इसी स्थापना को सही बातते

हैं।[६९] ऋग्वेद में 'समुद्र' शब्द का अर्थ निश्चित ही सागर है, जहॉ सरस्वती नदी को पर्वत से समुद्र तक प्रवाहमान प्रदर्शित किया गया है।[७०] समुद्र से प्राप्त धन की व्याख्या या तो मोती से हो सकती है या फिर समुद्री व्यापार से होने वाले लाभ से।[७१] एक स्थान पर पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्रों का उल्लेख हुआ।[७२] धनार्जन के लिए समुद्र गमन[७३] क्या आर्यों के व्यापारिक सन्दर्भों में समुद्र संतरण का साक्ष्य नहीं प्रस्तुत करता? 'भुज्यु' के जहाज के टूट जाने पर अथाह एवं आश्रय रहित समुद्र से सौ डॉडों वाले युक्त जहाज में अश्विनी कुमारों ने उसका उद्धार किया।[७४] इतनी बड़ी नाव तो समुद्र में ही चलायी जा सकती है।

ऋग्वेद 'पणि' लोगों के उल्लेखों से भरा पड़ा है।[७५] ये 'पणि' कौन थे? ये धन सम्पदा सम्पन्न लोग थे। उनके धन की प्रकृति कुछ भी हो सकती है इन्हें कभी-कभी व्यापारी या कंजूस व्यक्ति के रूप में भी चित्रित किया गया है। पणियों को अयज्ञीय कहा गया है। ये दस्युओं के रूप में भी वर्णित है जो धन अपहृत करते थे एवं पर्वतीय दुर्गों या किलों में छिपा लेते थे[७६] कई उल्लेखें में इनकी निकृष्टतम निदा की गयी है।[७७] परन्तु परवर्ती कालीन उल्लेखों 'पणिक' अथवा 'वणिक', 'पण्य' तथा 'विपणि' के साथ असंदिग्ध सम्बद्धता देखते हुए ये व्यापारी ही प्रतीत होते हैं। इन्हें आर्य सामुद्रिक व्यापारी माना गया है।[७८] अल्टेकर महोदय इन्हें मूल हड़प्पा वासियों के साथ समीकृत करते हैं।[७९]

'पूषन्' नामक देवता की आराधना शायद सकुशल पहुँचाने के लिए की जाती रही होगी।[८०] प्रतीत होता है कि उस समय यात्रा मार्ग सुरक्षित नहीं थे। व्यापक वनों एवं असामाजिक तत्वों का भय बना रहता था। एक मंत्र में सुरक्षित यात्रा के लिए इन्द्र की प्रार्थना करते हुए अत्यंत भव्य, मजबूत एवं सुरक्षित रथ का विशद विवरण है।[८१] यातायात के साधनों में विभिन्न जलयान एवं रथों का उल्लेख हम देख ही चुके हैं। शकट या गाड़ी (अनस्) भी एक प्रमुख साधन रही होगी।

ऋग्वैदिक समाज में मृगया या आखेट को भी समाज के बड़े वर्ग ने जीविका के तौर पर स्वीकार कर लिया था। 'निधापति'[८२] यानि बहेलिए के लिए तो अपने एवं अपने परिवार के भरण-पोषण का यही एक आधार ही था। विविध पशुओं यथा सिंह, हिरन, जंगली

हाथी, जंगली भैंसे एवं बराह आदि के शिकार के उल्लेख प्राप्त हैं। सिंह को गड्ढा बनाकर[illegible] तो कभी हॉका लगाकर[illegible] पकडा जाता था।

जंगली भैंसों का शिकार एक तरह के प्रक्षेपकों से किया जाता रहा होगा।[illegible] हिरन को तो खंदकों में फंसा लिया जाता था[illegible] और जगली हाथियो को पालतू हथिनियॉ दिखाकर।[illegible] जीविका के साधन के अतिरिक्त मनोविनोद एव आत्मरक्षार्थ भी लोग शिकार करते रहे होंगे। सम्भवत. कसाई का व्यवसाय भी कुछ लोगों के द्वारा अपनाया गया था। यज्ञों में दी जाने वाली 'बलि' के सन्दर्भ में 'शमितृ'* की चर्चा काफी महत्वपूर्ण है। वैदिक एज में 'शमितृ' का अर्थ 'वह जो काटता है'** से लिया गया है।[illegible]

ऋग्वैदिक समाज में कई तरह के शिल्प, उद्योग एव व्यवसायों के उद्‌भव एवं विकास की सूचना हमें प्राप्त होती है। इससे यह तथ्य प्रकाशित होता है कि तत्कालीन समाज अपनी आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में एक आधारभूत संरचना खडी कर चुका था विकसित नहीं तो विकासशील ही सही। विविध शिल्प विशेषज्ञों में 'तक्षन् का स्थान सर्वोपरि प्रतीत होता है।'[illegible] यह लकडी का काम करता था।[illegible] आज के सन्दर्भों में हम इसे 'बढ़ई' के रूप में ज्यादा अच्छा समझ सकते हैं। वह रथ बनाता था जो आर्यों के लिए बहुपयोगी था। वह यातायात के साधनों के तौर पर गाड़ी (अनस्)[illegible] तथा नावें बनाता था उसके औजारों में परशु[illegible] और बसूले उल्लेखनीय हैं, उसकी सुन्दर नक्काशी की प्रशसा की गयी है।[illegible]

धातु का काम करने वाले कारीगर 'कर्मार' कहे जाते थे[illegible] आज के सन्दर्भों में 'लुहार' के रूप में जाने जाते हैं। वह चिड़ियों के पंखों से बनी धौकनी के (पर्णेभिः शकुनानाम) सहारे धातु को आग में गलाता था।[illegible] एव तत्पश्चात् विविध रूपाकार पात्रों को बनाता था।[illegible] पिटवाँ लोहे के वर्तनों की भी जानकारी वे रखते थे।[illegible]

धातुओं में 'अयस्' सर्वाधिक बार प्रयुक्त शब्द है इससे विभिन्न प्रकार के हथियार एवं औजार बनाने का उल्लेख है[illegible] परन्तु किस धातु के लिए यह शब्द प्रयुक्त है यह निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता, पुरातात्विक प्रमाण तो लौह ज्ञान को परवर्ती काल की

---

* ऋग्वेद- १ १६२ ९, २ ३ १०, ३ ४.१०,
** वैदिक एज, पृ० ४०२

परिघटना सिद्ध करते हैं। ऋग्वेद के साक्ष्यों से इसके 'लालरग' की बात सामने आती है जो इसे ताबे के अधिक नजदीक रखता है स्नेडर महोदय तो इसे विशुद्ध ताँबा ही मानते हैं।[९९] शतपथ ब्राह्मण में इसे 'सीसा' और 'सोना' छोड़कर किसी भी धातु से समीकृत करने की बात कही गयी है।[१००] तमाम विश्लेषणों के बाद अयस् का अर्थ कम से कम ऋग्वेद के काल में कॉस्य या ताँबे से करना ही ज्यादा युक्तियुक्त प्रतीत होता है। भले ही यह धातुओं का सामान्य अभिधान ही क्यों न रहा हो। राधा कुमुद मुखर्जी ऋग्वेद से 'हिरण्यकार' सुनार जो स्वर्णाभूषण गढ़ता था के परिचायक साक्ष्य भी पेश करते हैं।[१०१] और सुवर्ण प्राप्ति के स्रोत भी बताते हैं।[१०२]

'च्मर्ण' नामक शिल्पी[१०३] यानि चर्मकार विभिन्न तरह की वस्तुओं को बनाकर तत्कालीन समाज में अपनी विशिष्ट स्थिति को प्राप्त हुए थे वे पशुचर्म से थैले[१०४] और आच्छादन इत्यादि बनाते थे[१०५] इसके अतिरिक्त वे कोड़े लगाम और प्रत्यंचा इत्यादि भी निर्मित[१०६] करते थे वैदिक इंडेक्स के दृष्टातों से ज्ञात होता है कि उस समय चमड़ा कमाने की कला भी ज्ञात थी।[१०७]

इस काल में वैद्य 'भिषज' का व्यवसाय पर्याप्त समादृत था। कई जगह तो स्वयं देवताओं का चित्रण भिषज के रूप में[१०८] हुआ है। एक सूक्त में वनस्पतियों की रोग निवारण क्षमता को दर्शाते हुए उनकी प्रशंसा की गयी है।[१०९] उस समय यदि हड्डी जोडने की कला ज्ञात थी।[११०] तो यक्ष्मा जैसे रोगों का उपचार भी किया जाता था।[१११] विविध व्यवसायों के साथ 'भिषज्' का उल्लेख[११२] एक व्यवसाय के रूप में इसकी मान्यता का प्रमाण है।

नाई (वप्तृ)[११३] एक प्रमुख सदस्य था तत्कालीन समाज का। पहले हम देख चुके हैं कि आर्यो में क्षौर कर्म भी लोकप्रिय था एव लोग दाढ़ी मूंछ भी रखते थे।[११४] ऐसे में इसे व्यवसायी वर्ग के रूप में मान्यता मिलना कोई बड़ी बात नहीं प्रतीत होती।

ऋग्वेद में हम आर्यजनों को अपने वेश-विन्यास के प्रति काफी सजग पाते हैं। उनकी इस सजगता ने बहुत सम्भव है कई तरह के शिल्प एवं व्यवसायगत क्रियाकलापों को बढ़ावा दिया हो। कपड़ा बुनने की कला सर्वथा ज्ञात थी। बुनकर (वासोवाय)[११५] का उल्लेख है जो अपने करघे (वेम) पर बुनाई का काम करता था बुनने की करघी 'तसर'[११६] के रूप में जानी

जाती थी। ताना 'ओतु' और बाना 'ततु' कहा जाता था।[११७] एक स्थान पर रात्रिकाल एवं उषाकाल की तुलना बुनाई करती हुई दो स्त्रियों से की गयी है।[११८] बुनाई करने वाली स्त्री शायद 'सिरी'[११९] नामक संज्ञा से अभिहित की गयी है। कढाई का काम करने वाली 'पेशस्करी' कही गयी है चक्की पीसने का काम भी स्त्रिया ही करती थीं।[१२०] उपरोक्त आकलन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रतिदिन के गृहकार्यों एव कताई-बुनाई के कामों को स्त्रियॉ ही सम्पादित करती थीं। बुनाई के काम में 'ऊन' का ही प्रयोग अधिक होता था जिसे सिन्ध प्रदेश[१२१] एव गन्धार प्रदेश[१२२] से प्राप्त किया जाता था। 'कपास' की जानकारी सम्भवत· नहीं थी। अत· सूती वस्त्रों के निर्माण की सही जानकारी नही मिलती। लेकिन ऊनी वस्त्र के बारे में आश्वस्त हुआ जा सकता है। पूषन देवता को 'ऊनी' वस्त्र पहने हुए बताया गया है।

ऋग्वेद में कुम्हार के लिए 'कुलाल' शब्द व्यवहृत है।[१२३] जिससे मिट्टी से बनी वस्तुओं यथा पात्र-खिलौने आदि के बल पर यह पेशा भी प्रमुख स्तर को प्राप्त हुआ होगा क्योंकि साधारण जन के बीच मृदभाण्ड ही हमेशा लोकप्रिय रहे हैं।

इस बात की चर्चा यहॉ पुनः प्रासंगिक प्रतीत होती है। कि इस समय समाज में सभी व्यवसायों को समान दर्जा हासिल था। किसी भी व्यवसाय को अपनाने में न तो कोई आनुवंशिक तत्व और न ही भेदपरक भाव उत्तरदायी था। वरना किसी झिझक के बिना वैदिक मंत्रों का रचयिता अपने माता को चक्की पीसने वाली नहीं बताता। अपने पिता को चिकित्सक नहीं बताता। वह स्पष्ट करता है कि धन के लिए हम भिन्न-भिन्न व्यवसाय अपनाते हैं।[१२४]

व्यापार-वाणिज्य, कृषि कर्म एवं शिल्पौद्योगिक अर्थ व्यवस्था निर्वाह के स्तर को अतिक्रमित करती हुई सी प्रतीत तो अवश्य होती है, परन्तु है यह उत्तरवैदिक कालीन अर्थतंत्र की जटिलताओं का शिशुरूप ही।

द्वितीय उपभाग

अर्थ व्यवस्था के क्षेत्र में अपने पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा इस काल में जो सर्वाधिक निर्णायक परिवर्तन हुआ, वह कृषि को लेकर था। पहले के विकासशील स्वरूप को छोड़कर

विकसित हो रही थी। जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था के केन्द्र में कृषि स्थापित हो रही थी उसी क्रम में आर्यजनों की जीवन पद्धति में स्थायित्व के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे थे। पुरातात्विक प्रमाण भी स्थायी जीवन के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।[१२५]

उत्तरवैदिक काल में पूर्णतः व्यवस्थित आर्यों ने 'कृषिकर्म' की सम्भावनाओं को पहचान लिया था एवं इसके विकास के निमित्त इसमें धन-जन के निवेश को निर्णायक स्तर तक पहुँचाया। राजसूय यज्ञों में राजा के अभिषेक के अवसर पर राजा को सम्बोधित करते हुए पुरोहित के कथन पर ध्यान दिया जा सकता है 'हे राजन्! यह राज्य तुम्हें कृषि (कृष्यै) सामान्य कल्याण (क्षोभाय) तथा पोषण (पोषाय) के लिए दिया जाता है।[१२६] तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्न को 'ब्रह्म' मानते हुए समस्त प्राणियों की उत्पत्ति भरण-पोषण एवं उनका लय हो जाना इसी अन्न से बताया गया है।[१२७] अथर्ववेद में प्रचुर अन्न उत्पादन की कामना से सीता (हल से जुताई के कारण भूमि पर पड़ी रेखायें) की प्रार्थना की गयी है।[१२८] कृषि द्वारा उत्पादित वनस्पतियों एवं जंगली वनस्पतियों के सन्दर्भ भी प्राप्त होते हैं[१२९] और दोनों के बीच अन्तर भी स्पष्ट किया गया है।

कृषि कर्म में 'हल' की उपादेयता असदिग्ध है। अथर्ववेद में यह मान्यता प्राप्त होती है कि सबसे पहले पृथ्वी ने हल और कृषि को जन्म दिया।[१३०] हलों के आकार-प्रकार के बारे में अनुमान किया जा सकता है कि ये काफी विशाल होते होंगे। क्योंकि इन्हें खींचने के लिए ४ से लेकर २४ बैलों तक के जोते जाने की सम्भावना प्रतीत होती है।[१३१] फाल सम्भवत. खदिर अथवा खैर की लकड़ी का बना होता था। यह इतना कठोर होता था कि इसकी तुलना हड्डियों से की गयी है[१३२] एक जगह 'खदिर' से बने हल के फाल से प्रार्थना की गयी है कि वह लोगों को अनाज प्रदान करें।[१३३] अथर्ववेद में हल को 'पविरवंत'[१३४] या 'पवरिवम्'[१३५] कहा गया है। इससे यह अभिव्यजित होता है कि इस तरह के हल का अग्रभाग काफी नुकीला होता था। इसे धातु के फाल से युक्त हल बताया गया है।[१३६] बहुत सम्भावना है कि यह लोहे का रहा हो।

शतपथ ब्राह्मण में कृषिकर्म की सारी प्रक्रियाओं का विस्तृत विवरण आया है जुताई, बुवाई, लवनी और मड़नी।[१३७] क्षेत्रपति के रूप में खेतों के देवता की आराधना की जाती

थी।[१३८] अथर्ववेद में कृषकों और वणिकों की समृद्धि के लिए जो अनेकों प्रार्थनायें (पौष्टिकानि) की गयी है उनमें कृषि सबधी उत्तरवैदिक लोगों की जानकारी प्रशसनीय है। उपज में बढ़ोत्तरी से सम्बधित कई उल्लेख मिलते हैं। एक जगह 'नभस्पति' की स्तुति है।[१३९] इससे यह अनुमति होता है कि उस समय अनावृष्टि की समस्या भी आती रही होगी या अतिवृष्टि की भी। इससे उपज प्रभावित होती रही होगी। अत· उन्हें प्रसन्न कर अनुकूल बनाने की कामना परिलक्षित होती है। इसी तरह एक स्थान पर कीटों के विनाश के लिए देवताओं को पुकारा गया है, क्योंकि ये कीट-पतंगे कृषि को नष्ट कर उपज को प्रभावित करते थे।[१४०] अनेक विधि-विधान पृथ्वी की उर्वरा शक्ति में वृद्धि हेतु किये जाते थे। जैसे 'शुनाशीरिय' हलपूजन, अनुष्ठान, स्त्री देवताओं की स्तुति इन्हीं सन्दर्भों में प्राप्त होती है। अथर्ववेद में 'सिनिवलि' को अन्न एव सन्तान दोनों प्रदान करने में समर्थ देवी के रूप में वर्णित किया गया है।[१४१] गोभिल गृह्य सूत्र जुताई से पहले सीता को अज्याहुति देने की अनुशंसा करता है।[१४२] शतपथ ब्राह्मण में गोबर यानी करीष की खाद का उल्लेख आता है,[१४३] जहां इसे एकत्रित किये जाने की प्रक्रिया का पता चलता है। अथर्ववेद में पशुओं की खाद को मूल्यवान माना गया है।[१४४]

इतने उद्यमों के बाद भूमि की उर्वरता बढ़ी होगी एवं तत्पश्चात् उत्पादन भी। ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा अधिक किस्म के अन्नोत्पादन का साक्ष्य मिलता है। ऋग्वेद में केवल 'यव' यानि जौ का ही विस्तृत वर्णन है परन्तु इस काल के ग्रन्थों में 'ब्रीहि' जिसे चावल से समीकृत किया है। छाया हुआ है। 'यव' के अतिरिक्त इस काल की एक महत्वपूर्ण फसल 'गेहूँ' थी। मूँग, उड़द, तिल एवं मसूर आदि की भी खेती की जाने लगी थी।[१४५] वर्ष में दो फसलें होती थीं।[१४६] तैत्तिरीय संहिता का वर्णन है कि 'जौ' शीतकाल में बोया जाता था और गरमी में पक जाता था, धान वर्षाकाल में बोया जाता था और शरद् काल में पक जाता था, मूँग, उड़द और तिल वर्षा काल में बोये जाते थे और शरद् काल तक पकते थे।[१४७] अथर्ववेद में दो प्रकार के धान का प्रसंग आया है एक 'ब्रीहि'[१४८] और दूसरा तन्दुल।[१४९] प्रो. शर्मा का विचार है कि इस काल तक चावल उपजाने में अधिरोपण की तकनीक का इस्तेमाल सम्भवतः नहीं किया जाता था।[१५०] साठ दिनों में पककर तैयार हो जाने वाली धान की फसल भी लोग जानते थे जिसे 'षष्टिक' कहा जाता था।[१५१] यह साधारण मोटा चावल 'साठी' के नाम से आज भी उत्तर प्रदेश एवं बिहार के खेतों में उगाया जाता है।[१५२] ईख का उल्लेख भी

अथर्ववेद में आता है परन्तु इसकी खेती नहीं की जाती थी। इसे जंगली वनस्पतियों में परिगणित किया जाता था।[५३] बाजरे (श्यामाक) का भी उल्लेख मिलता है।[५४]

सबसे महत्वपूर्ण तथ्य इस काल के साहित्यिक ग्रन्थों के वर्णनों में चाहे वे सामाजिक जीवन को सन्दर्भित कर रहे हों या आर्थिक जीवन को, यह देखने में आता है कि उन्हें पुरातात्विक निक्षेपों के उत्खनित साक्ष्यों से पुष्ट भी किया जा सकता है। अतरजीखेडा के चित्रित धूसर मृद्भाण्ड स्तरों से जौ के अतिरिक्त चावल और गेहूँ के साक्ष्य भी पाये गये हैं।[५५] हस्तिनापुर से चावल तथा जगली किस्म के गन्ने के अवशेष भी प्राप्त होते हैं।[५६] खदिर, शिंशपा, करीर, करकधु, कोल, कबुल, बदर, पीलु, शामी, प्लक्ष (पाकर) इत्यादि वृक्षों का बहुश. उल्लेख प्राप्त होता है। जिनका तत्कालीन जीवन में बहुविध प्रयोग होता था।[५७]

दातृ (दरैती) एवं हंसिया[५८] (सृणि) जैसे कुछ उपकरण उत्तरवैदिक साहित्य में उल्लिखित पाए जाते हैं जिनका प्रयोग सम्भवतः अन्न की कटाई में होता होगा। अतरंजीखेड़ा से प्राप्त कुछ उपकरणों में हंसिया के समान उपकरण भी देखे जा सकते हैं।[५९] फसल काटने के सन्दर्भों में एक अन्य उपकरण जो बहुधा प्रयुक्त हुआ है, उत्तरवैदिक साहित्य में, वह है 'लवित्र'।[६०]

अन्न को पकाने एवं खाने से सम्बंधित भी कई तरह के पात्रों से परिचय हमें उत्तरवैदिक साहित्य में मिलता है जैसे अम्बरीष[६१], उरव[६२], कंदु[६३], स्थाली[६४] तथा भ्राष्ट्र[६५] इत्यादि। अब तक उत्खनित चित्रित घूसर मृद्भाण्ड स्थलों से प्राप्त 'थालियाँ' से इनका मिलान हो सकता है।[६६] 'कुभ' एवं 'कोश' जैसे वर्तन कुछ रखने के काम आते रहे होंगे।[६७] कोश में अनाज एवं कुंभ में जल या कोई तरल पदार्थ संग्रह किया जाता होगा। कटोरे के लिए कुंड[६८] एवं शराब[६९] शब्द प्रयुक्त होता था। प्याले के लिए 'कपाल'[७०] शब्द का प्रयोग बड़ा रोचक लगता है।

अन्न की कुटाई के निमित्त ओखली एवं मुशल का प्रयोग होता था।[७१] जो हिन्दुस्तान के गॉवों के अधिकतर घरों में आज भी प्रयोग में आता है। खाना पकाने के लिए 'चूल्हे' की कई तरह के, भिन्न-भिन्न आकार-प्रकारों में एवं भिन्न उद्देश्यों से बनाये गये प्रतीत होते

हैं।[७२] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरवैदिक अर्थ सरचना कृषि पर आधारित थी जिसने भूमि के महत्व को प्रतिस्थापित किया एव स्थायी जीवन का आधार बनी।

परन्तु पशुपालन समाप्त नहीं हो गया था। अभी भी यह कृषि कर्म के साथ-साथ जीविकोपार्जन का सशक्त आधार था। अथर्ववेद में मवेशियों की वृद्धि के लिए इन्द्र की आराधना की गयी है।[७३] धीरे-धीरे गाय की पवित्रता बढती गयी। शतपथ ब्राह्मण में गाय और बैलों के मास भक्षण पर प्रतिबंध और कडा कर दिया गया, इस आधार पर कि वे पृथ्वी को धारण करते हैं।[७४] गायों के लिए ही रुद्र से भी प्रार्थना की गयी है कि इन्हें वे अपने कोप से बचाए रखें।[७५] कृषि कर्म में बढ़ती उपयोगिता ने पशुओं की हत्या (विशेषकर गायों) पर स्वत ही विराम लगा दिया। वस्तुत. जुताई से लेकर खलिहान से अन्न की घर तक ढुलाई या शहर-बाजार तक, पशु हमेशा उपयोगी थे। बेहतर उपज के लिए गोबर के रूप में प्राकृतिक खाद उपलब्ध कराते थे। पशुधन के बिना आर्यजन अपने को गृहविहीन मानते थे।[७६] पशुओं (गायों) को प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रक्रियाओं का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[७७]

धन के रूप में पशुओं का बड़ा महत्व था।[७८] आर्यो के लिए पशु श्री एवं सम्पत्ति के प्रतीक थे।[७९] उनकी बढ़ोत्तरी के लिए तमाम उपक्रम किये जाते थे।[८०] अथर्ववेद में पहचान के लिए उनके चिन्हांकन[८१] एवं सुविधा तथा आत्मीयता वश उन्हें कोई नाम[८२] दे देने की बात भी उल्लिखित है। गायों को दुहने वाले चरवाहे एवं उनको चराने वाले चरवाहे अलग-अलग होते थे।[८३] तात्पर्य यह कि उत्तरवैदिक अर्थतंत्र में पशुपालन की महत्वपूर्ण भूमिका स्पष्ट है। ऋग्वैदिक कालीन सारे पशु इस काल में भी विद्यमान थे। परिवर्तन इतना दिखाई पड़ता है कि उनके कार्य एवं उनकी उपयोगिता में कृषि के हस्तक्षेप से थोड़ी बहुत हलचल होती है। इस नये युग में हम 'हाथी' 'हस्ति' या 'वारण' को पालतू बनाये जाने के बारे में पढ़ते हैं। हाथीवान को 'हस्तिप' कहा गया है।[८४]

वस्तुतः कृषि एवं पशुपालन इस तरह अभिन्न हैं कि कृषि के मशीनीकरण के इस युग में भी अधिकांश खेती पशुओं के सहारे ही होती है तो उस समय जब खेती में पशुओं का उपयोग ही अपने आप में एक तकनीक का प्रवेश था, इनकी परस्पर अभिन्नता समझी जा सकती है। कृषि और पशुपालन के परस्पर सहयोग से एवं लोहे के प्रयोग से आयी

तकनीकी दक्षता से लैस होकर उत्तर वैदिक कालीन अर्थव्यवस्था अधिशेष और उपभोग का ऐसा ताना-बाना बुनती है जिसमें विविध शिल्पों एवं शिल्पगत व्यवसायों का अभ्युदय एव व्यापक प्रचार-प्रसार अवश्यम्भावी था। तत्कालीन ग्रन्थ भी इन उद्योगों एव व्यवसायों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी उपलब्ध कराते हैं। बाजसनेयी सहिता[८५] एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण[८६] में 'पुरूष मेध यज्ञ' के समय दी जाने वाली बलि के लिए विविध श्रेणी के मनुष्यों की सूची दी गयी है जो आश्चर्यजनक रूप से काफी लम्बी है और निम्नवत् हैः-

मागध (परवर्ती कालीन चारण भाटों के समान एक वर्ण), शंलूष (अभिनय से मनोरजन करने वाला), सूत (मागध के समान ही), सभाकार (सभा का सदस्य), रथकार (रथ बनाने वाला तथा बढ़ई), कुलाल (कुम्हार), कर्मार (लोहार), मणिकार (आभूषण बनाने वाला), यप (सम्भवतः ऋग्वैदिक वप्तृ अर्थात् नाई), इषुकार (वाण बनाने वाला), धनुषकार (धनुष बनाने वाला), ज्याकार (धनुष की डोरी बनाने वाला), रज्जुसर्ज (रस्सी बनाने वाला) मृगयु (शिकार से आजीविका चलाने वाला), श्वनिन् (कुत्तों को पालने वाला), पुजिष्ठ (सम्भवतः पक्षियों को पकडने वाला), विदलकारी (डलिया बनाने वाली स्त्री), कण्टकीकारी (सम्भवतः काटों का काम करने वाली स्त्री), पेशकारी (कपड़ों पर कढाई का काम करने वाली), भिषज् (चिकित्सक), नक्षत्रदर्श (नक्षत्र विद्या का विशेषज्ञ), हस्तिप (हाथी पालने वाला), अयूवप (घोड़े पालने वाला), गोपाल (गाय पालने वाला), अविपाल (भेड़ पालने वाला गडेरिया), अजपाल (बकरी पालने वाला गड़ेरिया), कीनाश (कृषि कर्म में प्रवृत्त), सुराकार (मदिरा बनाने वाला), गृह्य (घर की रक्षा करने वाला), क्षत्ता (रथ हाकने वाला), अनुक्षत्ता (क्षत्ता के अधीन रथ हाकने वाला), दार्वाहार (लकड़हारा), पोषिता (मूर्तिकार), रजमित्री (रंगरंजन), वास पल्पुली (धोबन), पिशुन (दूसरों के विषय में सूचना देवेवाला, नुप्तचर), क्षत्ता (द्वारपालक), अनुक्षत्त (उपद्वारापाल), अश्वसाद् (घुड़सवार), भागदुध् (राज्य के लिए कर इकट्ठा करने वाला), अंजनीकारी (आंखों के लिए अंजन बनाने वाली), कोशकारी (तलवार के लिए म्यान बनाने वाली), चर्मार (चमार), धीवर (मछली पकड़ने वाला मल्लाह), शौष्कल (सूखी लकड़ी का धन्धाकरने वाला), हिरयण्कार (सुनार), वणिज (बनिया), वनप (वन रक्षक), वीणावाद (वीणावादक), तनुवध्म (बासुरी वाद), शंखध्म (शंखवादक), वंशनर्तिन् (नट), ग्रामणी (गॉव का मुखिया), गणक (ज्योतिषी) अभिक्रोशक (घोषणा करने वाला)।

इन सबके अतिरिक्त उत्तरवैदिकजनों के वास्तुशिल्प में दक्षता का भी प्रमाण मिलता है। दस हजार आठ सौ ईंटों से बनी श्येनचित् वेदी जो पंख फैलाये हुए गरुण की आकृति की बनी है, इसका सक्षम साक्षी है।[१८७] इस काल में लोग कई धातुओं से विधिवत परिचित थे जिनमें लोहा, तॉबा और सीसा के अतिरिक्त सोना और चांदी प्रमुख है। वस्तुतः धातुओं के काम की उत्कृष्टता किसी भी सभ्यता की भौतिक उन्नति के ग्राफ को काफी ऊँचे स्तर तक रेखांकित करती है।

ऋग्वेद में 'अयस्' का अर्थ भले ही स्पष्ट न रहा हो परन्तु उत्तरवैदिक काल में लोहे के लिए 'श्याम अयस्'[१८८] और तॉबे के लिए 'लोहित अयस्'[१८९] या 'लोहायस्'[१९०] लोहे के उल्लेख को स्पष्टत चिन्हित एव व्याख्यायित कर जाते हैं। तॉबा विविधपात्रों के निर्माण में प्रयुक्त होता था।[१९१] शीशे की गोलियों का बुनकर द्वारा वस्त्र बुनने की प्रक्रिया के तहत उल्लेख मिलता है।[१९२] 'चांदी' के 'आभूषण'[१९३], बर्तन[१९४] या 'सिक्के'[१९५] बनते थे। सोने से गले का 'निष्क' नामक आभूषण, कान का आभूषण 'कर्णशोभन' बनाया जाता रहा होगा।[१९६] कुछ ऐसे भी शब्द प्राप्त होते हैं जो सोने की निश्चित तोल की सूचना देते हैं जैसे अष्ठाप्रूड[१९७] (अष्टाप्रुष) और शतमान।[१९८] एक उल्लेख से इस बात की भी जानकारी होती है कि आर्यजन उत्तरवैदिक काल में ईंटों के निर्माण की प्रविधि की जानकारी रखते थे।[१९९]

तत्कालीन साहित्य में 'कुलाल' कुम्हार के लिए प्रयुक्त हुआ शब्द है।[२००] समाज में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी क्योंकि प्रायः सभी इसके द्वारा निर्मित वर्तनों का उपयोग करते थे। शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित 'कुलालचक्र'[२०१] यह साबित करता है कि मिट्टी के घड़े, तश्तरियॉ इत्यादि विभिन्न प्रकार के मृदभाण्ड चाक पर बने होते थे।

वस्त्र निर्माण एक और क्षेत्र था जिसमें काफी बड़ी आबादी जीवन निर्वहन करती थी। 'ऊन' के लिए 'ऊर्णा' शब्द बहुशः प्रयुक्त है।[२०२] शण यानि 'सन'[२०३] का भी वर्णन मिलता है जिससे बनी चटाइयॉ, बोरे वस्त्र एवं आच्छादन का भी पता चलता है। सम्भवतः इससे मोटे वस्त्र बनाये जाते रहे होंगे। क्षौम वस्त्र शायद उच्च वर्गों का वस्त्र रहा हो। तार्प्य[२०४] को कई विद्वान क्षोम वस्त्र से ही समीकृत करते हैं। इस व्यवसाय में स्त्रियों की हिस्सेदारी ऋग्वैदिक काल में भी निर्णायक थी और इस काल में भी। सूत कातना, बुनना, कढ़ाई, रंगना इत्यादि

कार्य इन्हीं के जिम्मे थे। बयत्री[२०५] से आशय वस्त्र बुनने वाली स्त्री से ही लगाया जा सकता है। करघे के लिए वेमन्[२०६] शब्द प्राप्त होता है। कढाई का काम करने वाली स्त्रियाँ 'पेशस्करी'[२०७] कही जाती थी।

भिषक' का उल्लेख आया तो है[२०८] परन्तु इस काल में ऋग्वैदिक काल की इसकी स्थिति से कुछ ह्रास के लक्षण दिखाई पड़ते हैं।[२०९]

तात्पर्य यह है कि विविध शिल्पों की उन्नति के दृष्टिकोण से यह काल विशिष्ट है। पुराने शिल्प एव व्यवसाय अपनी घटती-बढती स्थिति के साथ विद्यमान थे ही, कई नये शिल्पों ने भी जन्म एवं आकार लिया। मैत्रायणी सहिता[२१०] में रथकार एव तक्षन् की चर्चा है जिन्हें 'रत्निन' बताया गया है जो तत्कालीन समाज में इनकी सम्मानजनक स्थिति का द्योतक है। राजसूय यज्ञ के 'रत्नहविंषि' संस्कार के अन्तर्गत राजा जिन रत्नियों के घर जाकर देवताओं को 'बलि' अर्पित करता है उनमें इन दोनों 'तक्षन्' एवं 'रथकार' का भी नाम है।[२११] विबिध पेशों के बारे में रमानाथ मिश्र[२१२] का आकलन तथ्यों पर आधारित प्रतीत होता है कि "ये अनेक पेशे कृषि आवश्यकताओं के साथ समाज में स्थापित हुए एव जीविका के साधनों के रूप में स्वीकृत हुए। किन्तु अन्ततोगत्वा ये जातियों एवं वर्गभेदों के कारण बने।"

कृषि ने जब आधारभूत संरचना की पृष्ठभूमि रच दी तो विविध शिल्पों उद्योगों एवं व्यवसायों ने व्यापार और वाणिज्य के विकास में निर्णायक योगदान दिया। इस युग के मूल पाठों में कई ऐसे उल्लेख आए हैं जो समुद्र तथा समुद्र गमन की स्थितियों को स्पष्ट करते हैं। ऋग्वैदिक युग में ही हम धनार्जन के लिए तत्कालीन लोगों के समुद्रगमन की बात स्पष्टतः जानते हैं,[२१३] जो व्यापार के निमित्त समुद्र की जानकारी को पुख्ता आधार प्रदान करता है। सौ डॉड़ों वाले जलपोत का उल्लेख एवं डॉड़ (अरित्र) तथा खेवनहार (अरिता) जैसे पदों का प्रयोग वाजसनेयी संहिता में प्राप्त होता है।[२१४] शतपथ ब्राह्मण में 'वाणिज्य' शब्द का उल्लेख आया है 'व्यापार' के लिए और व्यापारी के लिए सम्भवतः 'वणिक' या 'वणिज्'।[२१५] वाजसनेयी संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि ग्रन्थ भी 'वणिज्' शब्द का प्रयोग करते हैं।[२१६] अथर्ववेद[२१७] व्यापारियों द्वारा अपना-अपना माल लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर उन्हें बेंचने की जानकारी देता है।

पुरातात्विक उत्खननों से किसी मुद्रा का साक्ष्य तो नहीं मिला है परन्तु विभिन्न उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरवैदिक लोग निश्चित मूल्य के कुछ मानकों से परिचित अवश्य थे। शतपथ ब्राह्मण में 'शतमान्'[२१८] का उल्लेख है जिसकी तौल सौ रत्ती होती थी। इसे सुवर्णखण्ड माना जा सकता है।[२१९] निष्क भी इसी प्रकार का एक सुवर्णखण्ड रहा होगा। ऋग्वैदिक युग में ही एक निश्चित मूल्य की ईकाई के रूप में उल्लेख पाते हैं। इस समय भी इनका प्रयोग होता होगा, परन्तु अभी भी क्रय-विक्रय का प्रधान माध्यम वस्तु विनिमय ही रहा।

व्यापार के सिलसिले में दूरस्थ प्रदेशों से आवागमन के क्रम में चोरों, डाकुओं एवं यदाकदा जगली पशुओं से भी भय बना रहता था। एक स्थल पर व्यापारी की प्रार्थना के रूप में एक सूक्त का उल्लेख है।[२२०] ब्याज पर रूपये देने वाले का उल्लेख आता है।[२२१] तैत्तिरीय संहिता में भी कुसीद शब्द 'कर्ज' के अर्थ में व्यवहृत हुआ है।[२२२] कई स्थानों पर 'श्रेष्ठी' का उल्लेख आया है जो सम्भवत. व्यापारियों का प्रधान होता था।[२२३] वाजसनेयी संहिता 'गण' और 'गणपति' का साक्ष्य प्रस्तुत करती है[२२४] जो शायद व्यावसायिक संगठनों की ओर भी एक संकेत है। परन्तु परवर्ती कालीन साक्ष्यों का अनुशीलन उस समय भी इसके अस्तित्व का बोध कराते हैं।

भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व अभी उतना कारगर एवं प्रचलित नहीं हो पाया था। सजातीय अधिकार ही जारी था। भूमि अनुदानों के बारे में हम सर्वप्रथम इसी समय कोई जानकारी पाते हैं कि कोई क्षत्रिय अपने कबीले की सहमति से किसी व्यक्ति को बस्ती दान में दे सकता है।[२२५] परन्तु वास्तविक अनुदान का कोई साक्ष्य मिलता नहीं है। एतरेय ब्राह्मण में स्पष्टतः कहा गया है कि कोई मुझे यानि भूमि को दान में नहीं दे सकता।[२२६]

उपरोक्त विश्लेषण एक विकासशील एवं क्रमशः परिवर्तित हो रहे समाज का चित्र प्रस्तुत करता है। ऋग्वैदिक कालीन समाज में उत्पादक ही उपभोक्ता भी होता था और ऐसे में असमानता की गुंजाइश न्यूनतम रहती है। परन्तु कालान्तर में कृषि, दस्तकारी, व्यापार वाणिज्य ने सामान्य जन 'विश' जिनमें कृषक, दस्तकार, मजदूर यानि (वैश्य-शूद्र) थे, सामाजिक एव व्यावसायिक स्तर पर पुरोहितों एवं योद्धाओं से अलग कर दिया जो तत्कालीन

प्रभुवर्ग के रूप में आसीन हो चुके थे। पद एवं अधिकारों के लिहाज से स्तरीकृत समाज में उत्पादन के आधार वैश्य-शूद्र थे तो उपभोक्ता ब्राह्मण एव क्षत्रिय। 'विश' के उत्पादन पर ही ये और इनका तत्र टिका था। पुरोहित, राजन्य-, ग्रामणी, सेनानी, सग्रहीता इत्यादि का पोषण एवं सवर्धन इनकी उत्पादकता पर ही तो हुआ होगा।

उत्तरवैदिक लोगों के आर्थिक जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिघटना 'कृषि' थी। कृषि के अधिकाधिक विकास एवं प्रसार ने उनके जीवन को स्थायी आधार प्रदान किया। इस स्थायित्व ने मात्र 'निर्वाह' से कुछ आगे भी सोचने का क्रम प्रदान किया। इसी सोच ने आधारभूत सरचना विकसित की। कृषि का विकास हुआ। मानवीय आवादी के लिए मध्य गांगेय क्षेत्र का अछूता प्रदेश उपभोग्य बना। लौह तकनीक के ज्ञान ने दस्तकारी को बढ़ावा दिया, दस्तकारी ने किसानों की पैदावार को, बढ़ती पैदावार ने किसानों के भरण-पोषण के अतिरिक्त कुछ 'बचत' की सम्भावना छोड़ दी। इस बचत ने उपभोग के द्वार खोल दिये। इसकी पूर्ति में विविध शिल्पी एव व्यवसायी लगे थे। उन्हें अपने श्रम का मूल्य एवं अपनी दक्षता की प्रतिष्ठा मिली। उत्तरोत्तर विकास की इस प्रक्रिया ने कबीलाई पशुचारी एवं समतावादी समाज को पृष्ठभूमि में धकेल दिया एवं एक कृषि आधारित बाजारोन्मुखी समाज की नींव रख दी, कदाचित् समाज के समतावादी आदर्शों की कीमत पर। इसी नींव पर वाद के कालों में भव्य इमारत गढी गयी।

ऋग्वैदिक अर्थव्यवस्था अगर निर्वाह की अर्थ व्यवस्था थी तो उत्तरवैदिक अर्थव्यवस्था उत्पादन अधिशेष और उपभोग की अर्थव्यवस्था थी और यही अर्थतंत्र विकास में क्रान्तिकारी परिवर्तन का प्रस्थान बिन्दु है।

संदर्भ संकेत एवं टिप्पणियाँ

१ जी एस पी मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था, पृ०-७७

२ ऋग्वेद के दशम् मडल में सूक्त सख्या १६ एव १६६ ये दोनों सूक्न "गो माता" की प्र ासा में है।

३ ऋग्वेद, १ १६१ ११

४ ऋग्वेद, ३ ४७ ४, ५ ६३ ५, ६ ३१ ३, ६ ७६ २, ८ २४ २

५ ऋग्वेद, २ २५ ४७, १२१ १५, ३ ३१ १०, ४ ३८ ४, ६ १६ १२, ५ ३४ ८

६ ऋग्वेद, ८ ५३ ८, ६त्र६७ १५

७ ऋग्वेद, २ १ १२, २ ,१३, ४ ८, ६ ४१ ६, ३.१.१६, ३६ ८-६, ४६ ४, १६ ५, २१ ६, २५.२, ३० ११ ।

८ ऋग्वेद, २ ४१ ७, ७ २७ ५, ६ ४१ ४, ६३ ३

६ ऋग्वेद, १ १६४ ४१

१० इसका तात्पर्य "गाय के समान बालो वाली" है यह ऋग्वेद में तो कहीं नहीं आया है किन्तु यह शब्द भैंस के लिए ही प्रयुक्त है, देखिए गवल, मोनियर, विलियमस, ए सस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०-३५१

११ जी एस पी मिश्र, पूर्वोक्त, पृ०-७७
राधाकुमुद मुखर्जी, हिन्दू सभ्यता, पृ०-८८

१२. ऋग्वेद, १ २८ ६, ६.६६.२८

१३. ऋग्वेद, १० ८६ १३

१४ ऋग्वेद, ८ ४६ ८

१५ ऋग्वेद, १० १०१ ७
परन्तु प्रो रामशरण शर्मा का कहना है कि इतना तय है कि घोडों को हल में नहीं जोता जाता था। देखें प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ०-१३५

१६ शर्मा, पूर्वोक्त, पृ०-१३५

१७ ऋग्वेद, ६ २६ ८

१८ ऋग्वेद, १ ३४ ४

१६ ऋग्वेद, १ १२६ ७, ४ ३७ ४

२० ऋग्वेद ६ ३३ १

२१ ऋग्वेद ८ ४६ २८

२२ ऋग्वेद, ४ १५ ६, ८ २२ २, ७ ५५ ३

२३ ऋग्वेद, २.२६ ८

२४ मैक्डानेल, हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ- १४८

२५ ऋग्वेद, १० १०६ ६

२६ ऋग्वेद, १ २४ ३, २७ ६, १०२ ४, १४१ १, २ १४ १२, ३ २ १२, ४.६६ १, ५ ५२ २१

२७ वही, ६ ५० ११

२८ आर्य शब्द का अर्थ कालान्तर में जाकर "श्रेष्ठ" किये जाने लगा, शायद इसलिए कि इस जनजाति ने शेष आर्य या आर्येत्तर जनजातियों के मध्य अपनी श्रेष्ठता साबित कर दी थी।

२६ ऋग्वेद, २ १४.११, ५ ५३ १३, ६ ६ ४

३० ऋग्वेद, २ २ १६, ४ ३८ १०

३१ प्रो आर एस शर्मा, भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाए, पृ -५६

३२ द्र वैदिक इडेक्स, 'चर्षणि' शब्द के अन्तर्गत, जि १, पृ -२५७

३३ वही, २५८

३४ वही, वैदिक इडेक्स, जि १, पृ०-२५७

३५ वही, ४ ५७ ८

३६ वहीं, ४.५७ ८

३७ वही, ४ ५७ ६-७

३८ ऋग्वेद, ८ ६ ४८, १० १०१ ४

३९ ऋग्वेद, ३ २ १

४० वही, ३ ८ ७

४१ वही, १ १७९ ६

४२ ऋग्वेद, ८ ७८ १०

४३ वही, १ ५८ ४, ४ ५

४४ वही, ८ ७८ १०, १० १०१ ३, १३१ २

४५ वहीं, १० ४८ ७

४६ वहीं, १० ७१ २

४७ वहीं, १० ६४ १३

४८ वहीं, २ १४ ११

४९ वहीं, ४ ५७ १, ७ १०१ ३, १० ५० ३

५० वहीं, ७ ४९ २

५१ वहीं, १ ११६ ६, ८ ४६ ६

५२ वहीं, १ ५५ ८, १० १०१,५-६,

५३ ऋग्वेद, ३ ४५ ३

५४ ऋग्वेद, १ ११७ २१ ६ १३ ४

५५. ऋग्वेद, ४ २४.७, ५.५३ १३

५६ पुरातात्विक साक्ष्यों में भी अतरजीखेडा के तृतीय चरण से ही चावल का साक्ष्य मिला है, परन्तु इसकी तिथि १२०० से ६०० निर्धारण थोडा कठिन कार्य प्रतीत होता है पुनश्च ऋग्वेद में चावल का उल्लेख भी नहीं होता।

५७ ऋग्वेद, १० ६८ १

५८ ऋग्वेद, ४ ५६ ६

५९ ऋग्वेद, ८.६१.५-६

६० वहीं, १० ३४ १३

६१ तुलनीय आर वी फ्राल्टदि ब्रदर्स, खण्ड-तीन १९६२ पृ० - ५९

६२ ऋग्वेद, १.१२२ ११

६३ वहीं, १ ५६ २, समुद्र न सचरणे सनिष्यव

६४ वहीं, ४ २४ १०, दस गायों के बदले इन्द्र की एक प्रतिमा लेने का उल्लेख है।
क इम दशभिर्ममेन्द्र क्रीणाति धेनुभि ।

६५ वहीं, १ १२६ २

६६ वहीं, २ २७ ४

६७ वहीं, ८ ४७ १७ "यथा कला यथा शफ यथा ऋण सन्नयामासि"

६८ द कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जि० १ पृष्ठ - ७८-७९

६९ वैदिक एज, पृष्ठ - २४८

७० ऋग्वेद, ७ ९५ २, ६ ६१ २, ८

७१ वहीं, १ ४७ ६, रयिसमुद्रात्
७.६ ७ , ९ ९७ ४४, वसूनि समुद्रात्

७२ वहीं, १० १३६ ५-६

७३ वहीं, पूर्वोक्त, सन्दर्भ सख्या - ६४.
१ ५६ २ एव ४ ५५ ६

७४ वहीं, १ ११६ ३-५, मृत्यु अस्त शतारित्रा नावम् आतस्थिवासम्

७५ वहीं, १ ३३ ३, १ १२४ १०, १ १५१ ६, १ १८० ७, ५ ५६ २ एव ४ ५५ ६

७६ वहीं, २ २४ ६, ३ ५८.२, ५ ७, ४.२५ ७, ६ १३,३, ३३ २ ३६

७७. वहीं,

७८. द्र दि वैदिक एज, पृष्ठ - २५२-२५३

७६ इन्डियन हिस्ट्री काग्रेस, १६५८ का अध्यक्षीय भाषण,
८० ऋग्वेद, १ ४२ १ तथा ३
८१ वहीं, ३ ५३ १७-२८
८२ वहीं, ६ ८३ ४
८३ वहीं, १० २८ १०
८४ वहीं, ५ १३ ३
८५ वहीं, १० ५१ ६ (क्षेप्नों जाया)
८६ वहीं, १० ३६ ८
८७ वहीं, ८ २ ६
८८ वैदिक एज, पृ०-४०२
८६ वहीं, ६ ११२ १
६० वहीं, १ १६१ ६, ३ ६० २, १० ८६ ५
६१ वहीं, ३ ३३ ६
६२ वहीं, १ १०५ १८
६३ वहीं, १० ८६ ५ (प्रिया व्यक्ता तुष्यानि)
६४ वहीं, १० ७२ २
६५ वही, १० ७२ २, ५.६ ५
६६ वही, ५ ३० १५, (अयस्मय धर्म)
६७ वही, ६ १ २ (अयोहत्)
६८ ऋग्वेद १ २५ ३, ६ २७ ६ ७ ७ २५, ५ ५३
६६ स्नेडर, प्री हिस्टोरिक एण्टिक्विटीज, पृ २१२
१०० शतपथ ब्राह्मण, ५ १ २ १४
१०१ ऋग्वेद, १ १२२ २
१०२ ऋग्वेद, ६ ६१.७ सिधु जैसी नदियों से प्राप्त किया जाता था जिसे "हिरण्यवर्तिन" कहा गया है। १ ११७ ७ भूमि से प्राप्त किया जाता था। "निरवात रूक्मम" 'निखात रूक्मम्'
१०३ ऋग्वेद, ८ ५ ३८
१०४ ऋग्वेद, १० १०६ १०
१०५ ऋग्वेद, ८०.१०६ १०
१०६ ऋग्वेद, १ १२१ ६, ६ ४७ २६, ६ ७५.२
१०७ वैदिक इडेक्स, १ २३४ २५७
१०८ ऋग्वेद, १ ११६ १६ (अश्विनों को)
१ २४ ६ (वरूण को)
२ ३३ ४ (इन्द्र को)
१०६ ऋग्वेद, १०.६७
११० ऋग्वेद, ६ ११२ १
१११ ऋग्वेद, १ १२२ ६, १० ८५ ३१,
११२ वहीं, ६ ११२
११३ वहीं, १० १४२ ४
११४ वहीं, १०.१४८ ४
११५. वहीं, १० २६.६
११६. वहीं, १०.१३० २
११७ वहीं, ६ २ ६
११८. वहीं, २ ३८
११६. वहीं, १० ७१ ६
१२० वहीं, ६ ११२ ३

१२१ ऋग्वेद, १० ७५ ८

१२२ ऋग्वेद, १ १२६ ६

१२३ राम शरण शर्मा, प्राचीन भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृष्ठ - १३६

१२४ ऋग्वेद, ८ ११२ ३

१२५ राम शरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाएँ, पृष्ठ - ११२

१२६ उक्त उद्धरण के लिए देखें, जी एस पी मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था - पृष्ठ ११८ इससे यह स्पष्ट होता है कि कृषि की समुचित व्यवस्था, उसकी देखभाल राजा के निर्दिष्ट कर्तव्यों में परिगणित होता था।

१२७ तैत्तिरीय उपनिषद, ३ ३

१२८ अथर्ववेद, ३ १७

१२९ शतपथ ब्राह्मण, ११ १ ७ २

१३० अथर्ववेद, ८ १० २४

१३१ अथर्ववेद, ६ ९ १ १
तैत्रिरीय सहिता, ५ २ ५
दिवैदिक एज, पृष्ठ ४६०
काठक सहिता, १५ २

१३२ अथर्ववेद, १३ ४ ४ ६

१३३ अथर्ववेद, १० ६ २३

१३४ वैदिक इडेक्स, जि -१, पृ - ५०६, में उद्धृत अथर्ववेद ३ १७ ३ तथा वाजसनेयी सहिता १२ ७१

१३५ वैदिक इडेक्स, जि -१, पृ - ५०६ में उद्धृत
तैत्रिरीय सहिता, १० २ ५ ६
मैत्रायणी सहिता, २ ७ १२
काठक सहिता, १६

१३६ वैदिक इडेक्स, जि -१, पृ. ५०६

१३७ शतपथ ब्राह्मण, १ ६ १ ३,
(कृषत', वपन्त, लुनन्त, मृणन्त)

१३८ अथर्ववेद, २ ८ ५

१३९ अथर्ववेद, ६ ७६ अपरच, ७.१८ ३६, ७.१८

१४० अथर्ववेद ६.५०, ५२

१४१ अथर्ववेद, ७ ४६ १

१४२ 'गोभिल, गृह्य सूत्र', ४ ४ २८
द्र. प्रस्तुत अध्याय की सन्दर्भ स -१२७ जिसमें अथर्ववेद में भी सीता की स्तुति का साक्ष्य है।

१४३ शतपथ ब्राह्मण, २ १ १ ७
तदस्या एवैनमेतत् पृथिव्यै रसेन समर्थयति तस्मादारबुकरीषा सम्भरति पुरोष्य इति।

१४४ अथर्ववेद, ३ १४.३ ४, १९ ३१ ३

१४५ वाजसनेयी सहिता, १८ १२, १९ २२, २१ २६

१४६ तैत्तिरीय सहिता- ५ १ ७ ३

१४७ तैत्तिरीय सहिता ७ २ १० २

१४८ अथर्ववेद, ८ ७ २०

१४९ अथर्ववेद, १० ६ २८

१५० अथर्ववेद, १० ६ २८

१५१ राम शरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ -१३८

१५२ वैदिक इडेक्स, जि -२, पृ - ३४५

१५३ आर.डी टर्नर, ए कम्पेरेटिव डिक्शनरी आफ दि इण्डो आर्यन लैंग्वेजेज, न १२८०६
अथर्ववेद १ ३४ १-५

१५४ अथर्ववेद, २० १३५.१२

१५५ जी एम बथ, तथा के ए चौधरी, प्लाट रिमेन्स फ्राम अतरजीखेडा, फेज-।।।
(१२००-६०० वी सी) द पोलियोवाट निस्ट, जि २०, न -३, १६७१, पृ -२८६, सदर्भ के लिए द्र -रामशरण शर्मा, भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाएँ, पृ - १००, स स -७८

१५६ देखें, राम शरण शर्मा, प्राचीन भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ - १३८, हस्तिनापुर से प्राप्त चावल के अवशेषोंको आठवीं शती ई पू का वनाया गया है। झा एव श्रीमाली (स), प्राचीन भारत का इतिहास, पृ -१३३

१५७ द्र , रामशरण शर्मा, भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाएँ, पृ -६५

१५८ राजछत्र मिश्र, अथर्ववेद में सास्कृतिक तत्व, इलाहाबाद, १६६८ पृ -१४७ ४१० पा टि -३ हिन्दी में उद्धृत, अथर्ववेद, ३ १७ २

१५६ रामशरण शर्मा, भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाएँ पृ -१०० पर उद्घृत, स स , ७३, आई ए आर ६५-६६,
चित्र स -७०

१६० टर्नर, पूर्वोक्त, स -१०६८६-८८, तैत्तिरीय ब्राह्मण कटाई के लिए "लुनाति" कात्यायन श्रौत सूत्र, कटाई के अर्थ में, "लवन" पाणिनी कटाई के लिए 'हसिया' के अर्थ में "लवित्र"

१६१ ऋग्वेद, १ १०० १७, में एक व्यक्ति का नाम है, कडाही के अर्थ में मोनियर विलियम्स पूर्वोक्त, "अम्बरीष" शब्दान्तर्गत।

१६२ ऋग्वेद, १२ ३ २३

१६३ मोनियर विलियम्स, पूर्वोक्त, "कदु" शब्द के अन्तर्गत, त , टर्नर, पूर्वोक्त, सख्या- २७२६-२७२८

१६४ मोनियर विलियम्स, पूर्वोक्त, "स्थाली" शब्द के अन्तर्गत, वैदिक इडेक्स, जि -२, पृ -४८७

१६५ मोनियर विलियम्स, पूर्वोक्त, "भ्राष्ट्र" शब्द के अन्तर्गत, टर्नर, ऊपर उल्लिखित, न - ६६५६

१६६ रामशरण शर्मा, भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाएँ, पृ -१०२

१६७ वहीं,

१६८ मोनियर विलियम्स, पूर्वोक्त, 'कुण्ड' शब्द के अन्तर्गत, टर्नर, ऊपर उल्लिखित न० ३२६४

१६६ वैदिक इडेक्स, जि -२, पृष्ठ-५८

१७० कात्यायन स्रोत सूत्र, २ ४ २७-३६

१७१ शतपथ ब्राह्मण ७ ५ १ २५

१७२ रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाएँ, पृ -१०२, पुरातात्विक प्रमाणों के आधार पर "चुल्हों" की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गयी है, जो चित्रित धूसर मृद्माण्ड स्तर से 'अहिच्छत्र', 'कसेरी' एव अतरजीखेडा की खुदायी से प्राप्त है।

१७३ अथर्ववेद ४ २२ २

१७४ शतपथ ब्राह्मण ३ १ २ ३ , ५.१ ३ ३ (इयम वै वसा पृष्णि)

१७५ अथर्ववेद ६ ५६ ३, ७ ७५ १

१७६ शतपथ ब्राह्मण १ ८.२ १४ (गृहा हि पशव)

१७७ मैत्रायणी संहिता ४ २

१७८ ऐतरेय ब्राह्मण ८.२२, एक पुरोहित उद्मय आत्रेय को दस हजार हाथी, सोने के हार पहनी दस हजार सेविकाएँ, लाखों गाये तथा अट्ठासी हजार सफेद घोडे दान में दिये जाने के उल्लेख से पशुओं का धन के रूप में महत्व निर्विवाद तथ्य बन जाता है।

१७६ अथर्ववेद १ १६ ३
पचविंश ब्राह्मण १३ २ २ श्री वै पशव

१८० अथर्ववेद २ २६.३, १४ ६ ५६

१८१ अथर्ववेद १२ ४ ६१

१८२ वही ६.७२ २

१८३ वही, १० १०.५,
'शत कन्सा शत दुग्धार शत गोप्तारो अधिपृष्ठे अस्य'

१८४ वाजसनेयी सहिता ३० ११

१८५ वाजसनेयी सहिता, अ० ३०

१८६ तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३ ४
१८७ वाजसनेयी सहिता ११ १८
१८८ अथर्ववेद ११ ३ १ ७ , ६,५,४
१८६ अथर्ववेद १३ ३ १ ७
१६० शतपथ ब्राह्मण ५ ४ १ २
१६१ अथर्ववेद ८ १० २२
१६२ वाजसनेयी सहिता १६ ८०
१६३ शतपथ ब्राह्मण १२ ८ ३ ११
१६४ तैत्तिरीय सहिता २ २ ६ ७ , ३ ६ ६५
१६५ पचविश ब्राह्मण, १७ १ १४
१६६ शतपथ ब्राह्मण ५ १ २ १६
१६७ काठक सहिता ११ १
१६८ शतपथ ब्राह्मण ५ ५ ५ १६
१६६ वही १३ ४ ३ ६
वाजसनेयी सहिता ११ १८
२०० वाजसनेयी सहिता ३० ७
मैत्रायणी सहिता १ ८ ३
२०१ शतपथ ब्राह्मण ६ ८ १
२०२ वाजस्नेयी स० १६ काठक स० ३८ ३
२०३ अथर्ववेद २ ४५
२०४ अथर्ववेद १८ ४ ३१
शतपथ ब्राह्मण ५ ३ ५ २०
२०५ पचविश ब्राह्मण १ ८ ६
२०६ तैत्तिरीय ब्राह्मण २ १ ४ २
२०७ वाजसनेयी सहिता ३० १
२०८ वही ३० १०
तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ ४ ४ १
२०६ तैत्तिरीय सहिता ६.४ ६ ३
२१० मैत्रायणी सहिता, २ ६ ५ ' . तक्षरयकार्यो गृहे
२११ शर्मा, रामशरण, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० ५४-५५
२१२ मिश्र रमानाथ, प्राचीन भारतीय समाज अर्थव्यवस्था एव धर्म, पृ० २४
२१३ ऋग्वेद १ ५६ २, ४ ५५ ६
२१४ वाजसनेयी सहिता ३१ ७
२१५. शतपथ ब्राह्मण, १ ६ ४.११
द्र०, मिश्र, जी० एस० पी०, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था, पृ० १२२
२१६ वाजसनेयी सहिता ३० १७
तैत्तिरयी ब्राह्मण ३ ४ १४ १
२१७ अथर्ववेद ३ १५
२१८ शतपथ ब्राह्मण ५ ५ १६
"तस्यै त्रीणि शतमानि दक्षिणा"
२१६ वही १२.७ २ १३, १३.२.३ २
२२० अथर्ववेद ३.१५
२२१ शतपथ ब्राह्मण १३ ४ ३.११
(कुसीदिन् उपसमेता भवंत्ति)
२२२ द्र०, जी० एस० पी० मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था, पृ० १२३

२२३ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ ३० ३, ४ २५ ८ ६ , ७ १८ ८
बृहदारण्यक उपनिषद् १ ४ १२

२२४ वाजसनेयी सहिता, २३ १६ १

२२५ शतपथ ब्राह्मण, ७ १ ४

२२६ ऐतरेय ब्राह्मण, ८ २ १,
'न मा मर्त्य कश्चन् दातुमर्हति'।

३

तृतीय अध्याय

अधीत कालीन सामाजिक संरचना

(ई०पू० ६०० से ई० पू० २०० तक)

तृतीय अध्याय

"अधीतकालीन सामाजिक संरचना"

(ई०पू० ६०० से ई०पू० २०० तक)

यह विशेष कालावधि (ई०पू० ६०० से ई०पू० २००) क्रान्तिकारी परिवर्तनों की साक्षी रही। तत्कालीन समाज नई चुनौतियों के रू-ब-रू था। प्रतिरोध, परिवर्तन की पहली शर्त होते हैं और एक तरफ जहॉ नवीन अर्थ सयोजन के द्वारा भौतिक जीवन में आए परिवर्तन प्रतिरोध को जन्म दे रहे थे वहीं दूसरी तरफ बौद्ध और जैन विचारधाराओं की प्लेट-विवर्तनिकी भूमिका के द्वारा परिवर्तन की मानसिकता बनाई जा रही थी। लौह तकनीक से परिचय, प्रयोग एव प्रसार ने परिवर्तन के औजार भी थमा दिए। सब कुछ बदल रहा था। पूर्व की सारी मान्यताऍ जॉची-परखी जाने लगी, पारम्परिक भारतीय समाज, दुरूह धार्मिक कर्मकाण्डों, जटिल याज्ञिक क्रियाओं, वर्णों एव जातियों के आधार पर भेद परक स्तरीकरण, धर्म के आधार पर शोषण की सस्थाओं का पोषण, रूढ़ एवं अप्रासंगिक मान्यताओं के प्रचलन के परिणाम स्वरूप जर्जर हो चला था। वह टूटने के कगार पर था। और टूटा भी। लेकिन आर्थिक क्रिया व्यापारों के दबाव में एक धर्म आधारित समाज कीं सरचनाओं का टूट जाना या कहें भहरा जाना एक बड़ी परिघटना तो अवश्य थीं परन्तु रोचक भी कम नहीं थी। रोचक इन सन्दर्भों में कि श्रमजीवी वर्ग पर परजीवी वर्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई। उत्पादक वर्ग निम्न वर्णी रहे और उपभोक्ता वर्ग उच्च वर्णी हो गए।[1] औद्यौगिक विकास ने नवीन सामाजिक मूल्यों की स्थापना की तो दूसरी ओर आर्थिक असमानताओं को भी जन्म दिया। एक ऐसे सामाजिक तत्र का ताना-बाना बुना गया जिसमें आर्थिक विकास के लाभों को उच्च वर्णों के लिए सुरक्षित किया गया[2] क्योंकि भूमि एव उत्पादन के अन्य साधनों पर नियत्रण भी स्वाभाविक रूप से इन्हीं वर्णो का यानि ब्राह्मणों[3], क्षत्रियों[4], एवं सेट्ठियों[5] का ही था।

प्राचीन भारत में सामाजिक स्तरीकरण की जटिल प्रक्रियाओं की बेहतर समझ के लिए हमारे ही विश्व विद्यालय के गरीयान् विद्वान् डॉ० ए०पी० ओझा का वैदुष्य विवेचन काफी सहायक सिद्ध होता है जिसमें उन्होंने शास्त्रीय एवं लौकिक[6] दो प्रकार कें स्तरीकरण

की चर्चा की है, जिसमें पहले का आधार था, समाज का परम्परागत चतुर्वर्णीय विभाजन[7] तो दूसरे का आधार बनी राजनीतिक शक्ति एव आर्थिक समृद्धि[8]। अधीत कालीन समाज इन दोनों ही आधारों पर स्तरीकृत था। इस सत्य से विमुख नहीं हुआ जा सकता कि प्राचीन भारतीय समाज के स्तरीकरण में शास्त्रीय आदर्शों पर आधृत नियमन ही निर्णायक भूमिका निभाता रहा[9] और लौकिक प्रवृत्ति या तो नेपथ्य में रही या फिर मच पर कठपुतली बनी रही।

आलोच्य कालावधि में कुछ 'विशिष्ट आर्थिक गतिविधियों के चलतें'[10] पहली बार स्तरीकरण की लौकिक प्रवृत्ति भी मच सचालन[*] में सूत्रधार की भूमिका हथियाने की उत्सुकता और दक्षता प्रदर्शित करती है। एक नई व्यवस्था और नया सिद्धान्त विकल्प के रूप में सामने था। अधीत काल की सामाजिक संरचना, उस पर पड़ते दबावों, परिणाम स्वरूप हुए संशोधनों परिवर्तनों एवं प्रतिरोधों की सही-सही जानकारी के लिए दो उपभागों में, पहला ६०० से ३२२ ई०पू० और दूसरा ३२२ ई०पू० से २०० ई०पू० विभाजन सुविधाजनक प्रतीत होता है दूसरे शब्दों में कहें तो 'मौर्य पूर्व' और 'मौर्य युगीन' विभाजन और विश्लेषण विषय की सटीक एवं बेहतर व्याख्या करता प्रतीत होता है।

अधीतकालीन सामाजिक संरचना, चातुर्वर्ण व्यवस्था के आधार पर विभेदीकृत एवं स्तरीकृत, शोषण एवं दमन की अमानवीय स्थितियों का चरम निदर्शन प्रतीत होती है। यहाँ तक कि देवगण भी इस भेदपरक मानसिकता से बचें नहीं रह सके।[11]

वैदिक काल की भाँति वर्ण निर्धारण का आधार कर्म नहीं रह गया था और जन्म के आधार पर वर्ण निर्णयन[12] जाति प्रथा की ओर अग्रसरण का स्वाभाविक साक्ष्य बन बैठता है। तत्कालीन समाज में जातियों के बहुश· उल्लेखों के फलस्वरूप यह अनुमान लगाना आसान हो जाता है कि उस समय जाति व्यवस्था एक सर्व स्वीकृत संस्था के रूप में विद्यमान थी। धर्मसूत्रों में अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाहों के फलस्वरूप उत्पन्न विभिन्न जातियों का उल्लेख है।[13] चारों वर्णों के लिए जाति शब्द ही व्यवहृत होता था।[14] पालि बौद्ध ग्रन्थों में विभिन्न जातियों को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित कर[15] तत्कालीन सामाजिक सगठन को

---

*. मच सचालन में सूत्रधार की भूमिका केन्द्रीय एव निर्णायक होती है, नवीन अर्थ सयोजन ने लौकिक प्रवृत्ति को भी भूमिका सौंप दी।

परिभाषित करने का प्रयास किया गया है- 'उक्कट्ठ' उत्कृष्ट तथा हीन। क्षत्रिय और ब्राह्मण जातियॉ उत्कृष्ट जातियों में तथा चाण्डाल, वेण, निषाद, रथकार तथा पुक्कुस इत्यादि जातियॉ हीन जातियों में गिनी गई हैं। एक अन्य प्रमुख विशेषता इस युग में उभर कर सामने आती है कि विभिन्न जातियॉ अलग-अलग ग्रामों में बसने लगी। ब्राह्मण ग्राम[१६], क्षत्रिय ग्राम[१७], वनिय ग्राम[१८], निषाद ग्राम[१९], चाण्डाल ग्राम[२०] इत्यादि जातिगत आधार पर बने ग्रामों का उल्लेख मिलता है।

तात्पर्य यह कि बुद्ध युग यानि मौर्य पूर्व युग में जातिभेद अपनी पराकष्ठा पर था। इसकी 'आक्टोपसी गिरफ्त'* में तत्कालीन जन जीवन की समस्त सामाजिक एव आर्थिक संरचनाऍ घुट रही थीं। सर्वाधिक शोचनीय दशा शूद्रों की थी। द्विजातियों द्वारा मात्र और मात्र अपने लाभ के लिए जो सॉठ-गॉठ किया गया था उसके तहत तमाम अशक्तताएँ 'हीन' जातियों पर थोप दी गई। इन्हें भी शूद्र वर्णान्तर्गत ही रखा गया[२१]। कतिपय उल्लेखों के अनुशीलन से यह सम्भावना सहज ही अनुमित हो जाती है कि अस्पृश्यता की भावना भी उस समय की सामाजिक परिस्थितियों में सिर उठाने लगी थी।[२२] पाणिनि के द्वारा ('निश्वसित') तथा ('अनिश्वसित') के रूपों में शूद्रों के वर्गीकरण से भी यह संकेतित होता है कि कुछ जातियॉ विशेष घृणित समझी जाने लगी थी, इतनी कि, आर्य समाज की सीमा के अंतर्गत उनका निवास सम्भव नहीं रह गया था।[२३] बहुत संभव है- चाण्डाल एवं पुक्कुस ऐसी ही जातियॉ रही हों। रीज डेविड्ज का दीघ निकाय के हवाले से यह निष्कर्षण कि चाण्डाल एवं पुक्कुस चारो वर्णों अतएव शूद्रों से भी अलग थे,[२४] अश्पृश्यता एवं आर्य आबादी से पृथक्करण के सन्दर्भ में उचित ही प्रतीत होता है।

अधीत कालीन सामाजिक संगठन में अशौच की परिकल्पना, उसका प्रबल प्रचार एवं व्यापक स्वीकृति के साक्ष्य विभिन्न धर्मसूत्रों में बिखरे पड़े हैं।[२५] उन्हें कुत्तों और कौवों के साथ जोडा गया।[२६] चाण्डाल को देखने, उसकी वॉणी सुनने या उसके समीप आ जाने मात्र से भी अशौच के लगने का उल्लेख देखा जा सकता है, जैसे- उस स्थान पर वेद का

---

* आक्टोपसी गिरफ्त'- समुद्री जन्तु आक्टोपस जिसकी गिरफ्त प्रसिद्ध, है वह अपनी लम्बी-लम्बी बॉहों में अपने शिकार को पकड़ लेता है और अन्ततोगत्वा मार देता है, उसकी पकड़ से निकल पाना असम्भव होता है।

पठन-पाठन वर्जित है जहॉ कोई चाण्डाल ठहरा हुआ हों,[२७] या जहॉ से दिखाई पड रहा हों[२८], या जहॉ से वेद पाठन की ध्वनि उसके कानों में जा सकती हो।[२९]

प्राचीन पालि ग्रन्थों में भी 'हीन जातियों' के रूप में चडाल, नेसाद, वेण, रथकार और पुक्कुस के अनेकश उल्लेख मिल जाते हैं।[३०] इन हीन जातियों का ब्राह्मण कालीन समाज के अस्पृश्य जातियों से साम्य भी दृष्टिगत होता है[३१]। हीन व्यवसायों, कार्यों एवं जातियों की गणना एवं वर्गीकरण प्रो० रामशरण शर्मा के मतानुसार मौर्यपूर्व काल की प्रवृत्ति मानी जा सकती है।[३२] अपने निष्कर्षण के पक्ष में उन्होनें विनयपिटक के एक साक्ष्य का हवाला दिया है जिसमें बुद्ध ने निर्देश दिया है कि भिक्षुओं से उनकी जाति इत्यादि पूछ कर अपमानित न करें।[३३]

वस्तुत· जन्मना और कर्मणा दोनों ही आधारों पर ये जातियॉ अधम समझी जाने लगी। चाण्डालों के समान निषादों की भी स्थिति अपने कर्म प्रकृति[३४] 'शिकार' के कारण हीन हो गई और ये अपने गावों में निवास करने लगे।[३५] फिक ने बड़ी रोचक तुलना करते हुए बताया है कि शिकारियों का स्थान प्राचीन यूनान में भी निचली पायदानों पर ही रहा।[३६]

रथकार जिन्हें ब्राह्मण ग्रन्थों में अपेक्षाकृत ऊॅचा स्तर हासिल था,[३७] जातकों में कुछ हीनतर स्थितियों में प्रतिबिम्बित किया गया है। क्योंकि सम्भवतः उसने चमडे पर आधारित शिल्प भी अपना लिया था।[३८] लेकिन बौद्ध ग्रन्थों में जिनमें सामान्य रूप से क्षत्रियों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है, रथकार, जो कि रथ के पहिए भी बनाता था[३९] और इसलिए राजा अर्थात् प्रकारान्तर से क्षत्रियों के सहायक का ही काम करता था, उसे अधम जाति का माना जाना, क्या लगभग सर्वस्वीकृत इस मान्यता पर कि बौद्ध धर्म क्षत्रियों की वकालत करता है, हमें सप्रश्न नहीं कर देता? प्रो० शर्मा की यह मान्यता ठीक ही प्रतीत होती है कि चूँकि बौद्ध धर्म में युद्धों के प्रति घृणा का भाव मिलता है और ये आवश्यक रूप से उससे जुड़े हुए थे अतः इनके प्रति भी उनकी दुर्भावना समझी जा सकती है।[४०]

वेणों[४१] के सम्बन्ध में भी ऐसी ही पृच्छा प्रकट होती है कि यदि 'वेण' और 'तक्षक' शब्द एक ही अर्थ अभिव्यजित करते हैं[४२] तो जिस तक्षक को वैदिक समाज में एक सम्माननीय दर्जा हासिल था उसे बौद्ध साहित्य हीन जातियों में परिगणित करता है। परवर्ती

जातकों में छिटपुट उल्लेखों को छोडकर चाण्डालों के स्तर तक इनकी हीनावस्था या अस्पृश्यता[४३] प्रमाणित करने के साक्ष्य नहीं पाए जाते।

अब अस्पृश्यता एव हीन जातियों पर बुद्ध के विचारों का परीक्षण अनिवार्य प्रतीत होता है, क्योंकि एक शोधार्थी के रूप में मेरी ऐसी धारणा, तमाम अनुशीलनों के उपरान्त, विकसित हुई है कि उन्होंने बिना किसी भेदभाव के मानव मात्र के लिए सम्मान एव समता के सिद्धान्तों का परिपोषण किया।

भगवान बुद्ध ने कहा कि कोई भी मनुष्य जन्म के आधार पर न तो चाण्डाल होता है और न ही ब्राह्मण।[४४] उच्च वर्णों में जन्म लेने वाले मरते नहीं क्या? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी तो मरते हैं।[४५] उन्होंने चारों वर्णों के लोगों को भिक्षु बनने की संस्तुति की है[४६] एवं चाण्डालों तथा पुक्कुसों को निर्वाण प्राप्ति के सर्वथा योग्य बताया है।[४७]

ज्ञान पर ब्राह्मणों के एकाधिकार को चुनौती देते हुए यह प्रतिपादित किया कि शिक्षक बनने की योग्यता किसी जाति विशेष की बपौती नहीं। शिक्षक कोई भी हो सकता है और वह चाण्डाल या पुक्कुस ही क्यों न हो, सर्वथा आदरणीय है।[४८] बुद्ध की शिक्षाओं का उद्देश्य क्या था इसका एक उद्धरण विशेष द्रष्टव्य है जिसमें एक ब्राह्मण चाण्डाल से जादू सीखता है परन्तु संकोचवश उसे गुरू की प्रतिष्ठा नहीं दे पाता फलतः अपनी विद्या भूल जाता है।[४९] एक अन्य प्रसंग में एक ज्ञानी चाण्डाल द्वारा शास्त्रार्थ में हार जाने के बाद एक ब्राह्मण युवक को उस चाण्डाल के समक्ष नतशीष होना पड़ा था।[५०]

जैन ग्रन्थों के अनुशीलनोपरान्त[५१] भी यही निष्कर्षित होता है ब्राह्मण ग्रन्थों के विपरीत ये भी चाण्डालादि निम्न जातियों-जनजातियों के प्रति उदार ही थे एवं जन्म का भेदभाव यहॉ भी नहीं था। वस्तुतः इस विमर्श का उद्देश्य यह सिद्ध करना नहीं है कि बुद्ध एव महावीर की शिक्षाओं ने अस्पृश्यता एवं भेदभाव को समाप्त कर दिया। कोई बड़ा आमूल-चूल परिवर्तन हो गया उनकी स्थितियों में। उन्होंने ब्राह्मणों के वर्चस्व वाली समाज व्यवस्था के अन्यायों को चिन्हित किया, ज्ञान तथा नैतिक आचरण को सर्वाधिक महत्व दिया। ये स्थितियॉ बदल सकती हैं' इस कोंण से सोचने को संभव बना दिया यह सम्भावना कि शूद्र क्या चाण्डाल भी निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं बहुत बड़ी बात थी और सुत्तनिपात का बिख्यात

मातग (वसलसुत्त' का चाण्डाल पुत्तो सोपाको) प्रकरण[५२] इस संभावना को सत्य तो बना ही गया, भले ही अपवाद स्वरूप। आदिम जातियों की हीन सस्कृति एवं शारीरिक श्रम के प्रति घृणाभाव तथा जन्मना भेदभाव को दरकिनार करते हुए गुण एवं नैतिकता के महत्त्व को प्रतिष्ठापित किया एव समाज के निम्नतम के निकृष्टम प्रतिरूप चाण्डाल को भी उसके अस्तित्व का एवं गरिमा का बोध कराया।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में यानि मौर्ययुगीन भारत में भी अस्पृश्यता एव चाण्डालों के बारे में धर्मसूत्रों में वर्णित व्यवस्थाओं की ही अभिव्यजना है। एक उल्लेखनीय अन्तर यह किया गया है कि चाण्डालों को अन्य शूद्र जातियों के धर्म-कर्म से वंचित रखा गया है।[५३] उनका निवास स्थान श्मशान बताकर[५४] उनकी निम्नतम स्थिति स्पष्ट कर दी जाती है। स्पर्श के लिए दण्ड का विधान सर्वप्रथम कौटिल्य ने ही दिया जो चाण्डाल आदि जातियों पर ही लागू होता था।[५५] चाण्डालों की आर्थिक स्थिति उनकी मजदूरी पर निर्भर करती थी जो उनके द्वारा किए गए तरह-तरह के कामों के एवज में मिलती थी उनके काम थे आत्म हत्या करने वाले लोगों को रस्सी से बांधकर सडकों पर घसीटना[५६] व्यभिचारी स्त्री के शरीर पर कोड़े लगाना,[५७] नई बस्तियों की सुरक्षा[५८] इत्यादि कौटिल्य युग में इनकी पेशागत स्थिति कुछ स्पष्ट हो जाती है एव तत्कालीन अर्थतंत्र की व्यापकता में इनकी भी उपस्थिति को उपयोगी बना लिया जाता है इन्हें अशपृश्यता के नाम पर निठल्ला परजीवी नहीं बनाये रखा जा सकता था।

अस्पृश्यता पर विमर्श सबसे पहले इसलिए जरूरी हो गया कि अधीतकालीन सामाजिक संगठन की यह नई विशेषता थी एवं भेदपरक व्यवस्था की चरम अभिव्यक्ति भी। अव चातुर्वर्णाधारित एव जाति आधारित समाज में परम्परागत वर्णों की विशेषताएँ, उनकी स्थिति, भैातिक एवं वैचारिक परिवर्तनों के दबावों में उनके आपसी अन्तर्सम्बन्धों, जातियों का सम्मिलन एवं उनका स्थान अभिनिश्चयन, विशेषतया शूद्रो की स्थिति, स्त्री समाज की दशा इत्यादि बातों पर विचार किया जाएगा।

सर्वप्रथम ब्राह्मणों की स्थिति पर विचार आवश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि तमाम सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों एवं तद्जन्य चुनौतियों के बावजूद इन्हें शीर्षस्थान से च्युत

नहीं किया जा सका था। ये समाज के बौद्धिक तथा दार्शनिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे।[५९] जातीय शुद्धता में इनका विश्वास अटूट था। इनके ब्राह्मणत्व के दावे का आधार जन्म था।[६०] ब्राह्मणों के विशिष्ट गुणों का प्रतिपादन करते हुए उसकी सर्वश्रेष्ठता प्रतिष्ठापित करने के प्रयास किए गए।[६१] क्षत्रिय को अन्य वर्णों का तो शासक बताया गया परन्तु ब्राह्मणों का नहीं।[६२] शायद यह बौद्धों एवं जैनों द्वारा की गई क्षति की पूर्ति का प्रयास था। ब्राह्मणों को सभी प्रकार के शारीरिक दण्डों से बरी कर दिया गया।[६३] चूँकि वह याज्ञिक क्रियाकर्म सम्पन्न करता था, वैदिक साहित्य का परिरक्षण एवं संवर्धन करता था तथा समाज का नाना प्रकार की विपदाओं से उद्धार करता था,[६४] अतएव बहुत संभव है अपनी इन तथाकथित विशिष्टताओं के आधार पर आध्यात्मिक महिमा का दावा भी करता रहा हो।[६५] उससे कोई कर नहीं लिया जाता था।[६६] परन्तु समाज में विद्वान ब्राह्मण को अविद्वान ब्राह्मण की अपेक्षा अधिक सम्मान मिलता था।[६७]

पौरोहित्य इस वर्ण का प्रधान कर्म बना रहा और पुरोहित को समाज एवं राज्य प्रशासन में पर्याप्त समादृत समझा जाता था। राजसभा के एक प्रमुख पदाधिकारी के[६८] रूप में एवं अपने वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में यह राजा के अन्तरंगों में था।[६९] राजपुरोहित के रूप में विशिष्ट स्थिति का उपभोग करता हुआ प्रतीत होता है। जातकों में भी राजा और पुरोहित के अभिन्नतम सम्बन्धों की पुष्टि होती है।[७०]

परन्तु ब्राह्मणवर्ग के सभी सदस्य तो पौरोहित्य के आधार पर जीवन यापन कर नहीं सकते थे। बदलती हुई सामाजिक वास्तविकताओं एवं आर्थिक आवश्यकताओं के तहत् उन्हें विभिन्न वर्णेत्तर कर्मों द्वारा जीविकोपार्जन की व्यवस्था दी गई है। आपस्तम्ब[७१] एवं गौतम[७२] के द्वारा अत्यन्त विषम परिस्थितियों में वाणिज्य एवं कृषिकर्म के द्वारा जीवनयापन की व्यवस्था विहित की गई है। उस युग में अनेक ब्राह्मणों ने जीविकोपार्जन हेतु सैनिक वृत्ति अपना ली थी।[७३] यद्यपि सामान्यतः यह वर्जित व्यवसाय था।[७४]

बौद्ध लेखकों के अनुसार तत्कालीन समाज में ब्राह्मण कई प्रकार के कर्मो में रत थे यथा-सैन्यकर्म, वाणिज्य कृषि, शिल्प इत्यादि।[७५] बौधायन ने भी वैश्यवृत्ति वाले ब्राह्मणों की सूचना दी है।[७६]

बौद्ध ग्रन्थों में महासाल ब्राह्मणो का वर्णन आता है। जो सम्भवत. विपुल धन सम्पदा के स्वामी होते थे।[७७] सम्भवत ये राजाओं द्वारा प्राप्त भूमिदानों के कारण जिन्हे 'ब्रह्मदेय्य' कहा जाता था, पर्याप्त वैभव सम्पन्न हो गए थे।

लेकिन ब्राह्मणों की अच्छी-खासी जनसख्या अर्थ के दबाव में और बौद्धो जैनों द्वारा जन्मना श्रेष्ठत्व की अवधारणा पर चोट किए जाने के फलस्वरूप वर्णविरूद्ध कार्य करने को बाध्य थी जिन्हें आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। फलत बौधायन ने कडे नियमों का विधान किया था कि राजा व्यापारी एवं शिल्पी ब्राह्मणों से शूद्रकर्म करवा सकता है।[७८] ओर गौतम ने उन्हें करते हुए भी दिखाया है।[७९] जीविकोपार्जन हेतु ब्राह्मणों द्वारा भले ही कोई भी व्यवसाय अपनाया जाता रहा हो उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं आई थी। दस वर्ष के ब्राह्मण को भी अस्सी वर्षीय क्षत्रिय से श्रेष्ठ बताया गया है।[८०] जब वह क्षत्रिय के लिए पिता सदृश था[८१] तो अन्य वर्णों के सन्दर्भ में उसकी प्रतिष्ठा सहज ही अनुमित हो जाती है।

एक ही अपराध के लिए दण्ड की भी व्यवस्था वर्णानुसार की गई थी। हत्या और चोरी के अपराध में ब्राह्मण की आँखें बाँध दी जाती थी जबकि अन्यवर्णों के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था थी।[८२] एक ही अपराध में क्षत्रिय को १०० कार्षापण तो ब्राह्मण को ५० कार्षापण के दण्ड का विधान था।[८३] वह पूर्णतः अदण्ड्य, अबध्य, अवन्ध्य, अवहिष्कार्य, अपरिवाद्य एवं अपरिहार्य था।[८४]

परन्तु जैन एवं बौद्ध विचारों के प्रचार-प्रसार के कारण इनकी प्रतिष्ठा को क्षति अवश्य पहुँची थी। शायद इसी कारण जातकों में हम उन्हें न्याय की प्रक्रिया में किसी तरह की रियायत लेते नहीं पाते।[८५] वस्तुतः बौद्ध ग्रन्थों में जाति एवं जन्म के आधारों पर सुगठित भेदपरक वर्णव्यवस्था की कटु आलोचना की गई, ब्राह्मणों के प्रभुत्व को चुनौती दी गई। उनका तर्क था कि यदि ब्राह्मणों के द्वारा यह सामाजिक विधान सुनिश्चित किया गया है कि अध्ययन-अध्यापन ब्राह्मणों का प्रधान कर्म है, राजत्व क्षत्रिय का, कृषि-वाणिज्य वैश्यों का एवं सेवा का कार्य शूद्रों का तो हम इसे ब्रह्मवाक्य क्यों मान लें?[८६] बौद्धों के अनुसार ऐसी व्यवस्था अपने स्वार्थ-साधन के निमित्त थोपी गई। पूर्व जन्मों के कर्म फलानुसार वर्णों का

निर्धारण नहीं होता और न ही जन्म के आधार पर। यह कर्मणा होता है। बौद्धग्रन्थों में ब्राह्मण एव वृषक (पतित, शूद्र, हीनजन्मा) की परिभाषाएँ द्रष्टव्य प्रतीत होती है।[८७] मज्झिम निकाय आश्वलायन नामक ब्राह्मण को अपनी इस धारणा से सहमत कर लिया गया है कि केवल ब्राह्मण ही स्वर्ग-सुखोपभोग के योग्य नहीं अपितु कोई भी पुण्यकर्मो के द्वारा चाहे क्षत्रिय हो, या वैश्य या फिर शूद्र, स्वर्ग का अधिकारी हो सकता है।[८८]

समाज में ब्राह्मणों के एकाधिकार को जो ये कुछ तथाकथित चुनौतिया मिली इनके फलस्वरूप निश्चित रूप से उनकी प्रतिष्ठा कुछ गिरी होगी और मौर्य युगीन व्यवस्था में भी चूँकि ब्राह्मण धर्म को कोई राज्याश्रय नहीं प्राप्त हो सका इसलिए उत्तरोत्तर अपनी विशिष्टता अक्षुण्ण रखने के उद्देश्य से ज्यादा असहिष्णु नियमन अपनाया जाने लगा। एवं अपने परम्परागत आधारों को और सुपुष्ट किया जाने लगा। कौटिल्य के अनुसार ब्राह्मण ही यज्ञ सपादन करा सकते थे।[८९] मनु के अनुसार धर्म की रक्षा करने में एकमात्र ब्राह्मण ही समर्थ था। अत वहीं सर्वश्रेष्ठ है।[९०] महाकाव्यों तक मूर्ख ब्राह्मणों की समाज में प्रतिष्ठा नहीं पाई जाती लेकिन मनु के काल तक आते-आते ब्राह्मण चाहे जैसा भी हो मूर्ख या विद्वान वह देवतुल्य समझा जाने लगा।[९१] गर्हित, निन्दित एवं निषिद्ध कर्म करने वाला ब्राह्मण भी मात्र जन्म के आधार पर पूजित एवं प्रतिष्ठित हुआ।[९२] शायद बौद्धो एवं जैनों द्वारा किए गए आघातों के बाद यह क्षतिपूर्ति का प्रयास था। ब्राह्मण से कटुबचन बोलने के अपराध में क्षत्रिय एवं वैश्य को तो आर्थिक दण्ड देकर छोड़ दिया जाता था परन्तु शूद्र यदि ऐसी जुर्रत करें तो उसके वध का विधान था।[९३]

आलोच्य कालावधि में अस्पृश्यता एव चातुर्वण व्यवस्था के प्रथम वर्ण की स्थितियों पर अभी तक जो विचार विमर्श हुआ उससे तो यही अभिव्यंजित होता है कि अभी तक चले आ रहे परम्परागत समाज संगठन पर औपनिषदिक संचेतना द्वारा कुछ सवाल जरूर खड़े किए गए लेकिन जड़ मूल पर चोट इसी अवधि विशेष में किए गए। भौतिक जीवन में आए परिवर्तन तो खैर सर्वप्रमुख कारण थे ही परन्तु बौद्ध और जैन विचारधाराओं ने समस्त उद्वेलनों को अचानक सतह पर ला दिया। इन दोनों ही धर्मों के प्रवर्तक क्षत्रियवर्ण के थे। अतः तत्कालीन समाज के समग्र आयामों के साथ इस वर्ण की भी शल्य क्रिया आवश्यक प्रतीत होती है।

आखिर वे कौन से कारण है कि सुविधा भोगीवर्ग के बीच से ही उस व्यवस्था को वदल देने वाले पैदा हों गए। ब्राह्मणों के साथ-साथ क्षत्रिय भी इस समाज व्यवस्था की मलाईदार परत में मालईदार परत *में शामिल थे। गौतम की यह व्यवस्था थी कि राजा और विद्वान ब्राह्मण दोनों के सहयोग से ही ससार में धर्म की स्थापना सभव होती है।[९४] क्षत्रिय समृद्धि हेतु एव विपत्तियों से मुक्ति के लिए ब्राह्मणों का सहयोग चाहता था,[९५] तो शासक वर्ग होने के नाते[९६] देश-समाज एव चतुर्वर्णों की रक्षा करना,[९७] जिसमें ब्राह्मण सर्वोपरि थे, उसका प्रधान कर्तव्य था। क्षत्रिय वर्ण की प्रतिष्ठा धर्मसूत्रों में भी अधिक नहीं गिरी थी। वह यज्ञ दान वेदत्रयी आदि में दखल रखता था।[९८] वह वैदिक साहित्य में पारगत होकर आचार्य तक बनने की योग्यता का अधिकारी था।[९९]

परन्तु तमाम सुविधाओं एवं विशिष्टताओं के बावजूद थे तो वे द्वितीय वर्ण ही एवं हमेशा ही ब्राह्मणों को उनसे उत्कृष्ट एवं उच्चस्थ बता ही दिया जाता था। मसलन यदि ब्राह्मण क्षत्रिय को अपमानित करें तो ५० कार्षापण का अर्थदण्ड नियत था पर यदि क्षत्रिय ने ब्राह्मण को अपमानित किया तो १०० कार्षापण का दण्ड था।[१००] राजा ब्राह्मण से कर नहीं ले सकता था।[१०१]

परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के विपरीत बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में क्षत्रिय वर्ण को पहले क्रम पर प्रतिष्ठित किया गया है[१०२] स्वयं भगवान बुद्ध ने कहा है हे अम्बष्ठ, स्त्री से स्त्री की तुलना की जाय अथवा पुरुष से पुरुष की क्षत्रिय ही श्रेष्ठ है एवं ब्राह्मण हीन।[१०३] भगवान बुद्ध एवं वर्धमान महावीर की जन्मकथाएँ भी उस समय की चेतना की स्पष्ट अभिव्यंजना करती है। जातक निदान कथा में यह उल्लिखित है कि भगवान बुद्ध ने सभी वर्णों के गुण दोषों पर विचार-विमर्श के बाद क्षत्रिय कुल को ही लोक सम्मत माना एवं इसी में जन्म भी लिया।[१०४] इसी प्रकार भगवान महावीर भी देवनदा नामक ब्राह्मणी के गर्भ का परित्याग कर क्षत्रियाणी के गर्म में प्रविष्ट हुए।[१०५] दीघ निकाय एवं अंगुत्तर निकाय में क्षत्रियों को जन्मना सर्वाधिक निष्कलंक प्रदर्शित किया गया है।[१०६] यह निर्विवाद है कि बुद्ध के उपदेश क्षत्रियों की श्रेष्ठता की झलक मात्र नहीं दिखाते उन्हें स्पष्टतया अभिव्यन्जित भी कर जाते है। बुद्ध का कथन एक बार फिर विमर्श्य बन बैठता है। 'हे राजन्, क्षत्रिय ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्र ये चार

---

* मलाईदार परत- आरक्षण के सन्दर्भ में आधुनिक युग में प्रयुक्त सुविधाभोगी वर्ग के सन्दर्भ में।

वर्ण है, इनमें दो वर्ण क्षत्रिय और ब्राह्मण, अभिवादन, प्रणामांजलि, अग्रासन तथा सेवा के अधिकारी है।[१०७]

उपरोक्त चुनौतियों के फलितार्थ जो भी रहे हों निहितार्थ यही प्रतीत होता है कि आलोच्य कालावधि में क्षत्रियों ने ब्राह्मणों की सर्वोच्चता को सबसे या कहें अब तक की सबसे निर्णायक चोट पहुँचायी।

वस्तुतः ब्राह्मणों एव क्षत्रियों के बीच स्पर्धा बहुत पुरानी है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में उन प्रसगों का अनुशीलन भी हुआ है।[१०८] और कारण तो आलोच्य अवधि में भी सर्वोच्चता एवं विशिष्टता की प्राप्ति ही था जिसमें क्षत्रिय अभूतपूर्व रूप से सफल भी हुए। इस काल में क्षत्रिय सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं शक्ति सम्पन्न वर्ग के रूप में आविर्भूत होते है। इसके कुछ निश्चित एवं वाजिब कारण भी दृष्टिगोचर होते है।

सर्वप्रथम तो राजत्व की अवधारणा इसका एक प्रमुख कारण प्रतीत होता है जो अनिवार्यतः एवं स्वभावतः क्षत्रिय वर्ण में ही सन्निविष्ट था।[१०९] शासन एव प्रशासन का दायित्व एक तरह से उसका विशेषाधिकार हो गया। एक तो इन विशेषाधिकारों का लौह संरक्षण और दूसरे क्षत्रिय कुमारों के भी ब्राह्मण कुमारों के ही साथ एक ही गुरु से विद्याध्ययन[११०] उनमें श्रेष्ठता की भावना भरने में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ। क्षत्रिय विद्वता में ब्राह्मणों को श्रेष्ठ मानने को तैयार नहीं दीखते। वैसे भी उपनिषदों के काल से ही जनक एवं अजातशत्रु आदि इस प्रकार की चुनौतियों के सार्थक प्रेरणास्रोत रहे।[१११]

लौह उपकरणों एवं युद्ध के औजारों में लौह तकनीक के प्रयोग ने क्षत्रियों की स्थिति पहले से शक्तिशाली तो कर ही दी थी मुद्रा अर्थव्यवस्था ने जब से वेतन भोगी सैनिकों से युक्त विशाल सेना को संभव बना दिया राजा (राजन्य यानि क्षत्रिय वर्ण) की स्थिति सर्वोच्चता तक जा पहुँची राजा को मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया।[११२]

ब्राह्मणों के एकाधिकार, सामाजिक पाखण्ड एव आडम्बर को तार-तार कर देने वाले दोनो वैचारिक अग्रदूतों-बुद्ध एवं महावीर के जन्म भी इसी वर्ण में हुए अतः क्षत्रिय वर्ण का गर्व से भर उठना स्वाभाविक प्रतिक्रिया प्रतीत होती है और यही कारण है कि बौद्ध-जैन शास्त्रकारों ने विभिन्न सन्दर्भों के हवाले से क्षत्रिय वर्ण को सर्वोच्च बताया है। सोनक जातक

का एक उद्धरण द्रष्टव्य है जिसमें राजा अरिन्दम पुरोहित पुत्र सोनक से जन्मना अपने वर्ण की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते है"[३] कि यह तो हीनजन्मा ब्राह्मण है और मैं पवित्र क्षत्रिय कुलोत्पन्न।

बौद्ध एवं जैन साक्ष्यों में तो क्षत्रिय वर्ण को प्रथम वर्ण बताने वाले या कहें तो सर्वश्रेष्ठ वर्ण बताने वाले प्रसग बिखरे पडे हैं। सभवत· इन्हीं साक्ष्यों के आधार पर रीजडेविड्स महोदय का यह निष्कर्षण सामने आता है कि आम जनता के बीच ब्राह्मणों की सर्वश्रेष्ठता उतनी स्वीकृत नहीं रह गयी हो"[४] परन्तु इस निष्कर्ष से सहमति थोडी कठिन प्रतीत होती है। क्योंकि जनता या आमजनता सिर्फ क्षत्रियों से ही नहीं बनती। उसमें वैश्य और शूद्र भी है जिनसे अपवाद स्वरूप ही, ब्राह्मणों को चुनौती मिली। हॉ इतना जरूर है कि क्षत्रियों ने शक्ति, सत्ता, शासन, सम्मान एवं ज्ञान के आधार पर ब्राह्मणों से अपने को कमतर स्वीकार करने से इनकार कर दिया था।

लेकिन परम्परागत सामाजिक अनुशासन एव वर्ण क्रम में क्षत्रिय वर्ण का दूसरा स्थान था। वह शासक वर्ग था।"[५] चातुर्वर्णों की स्थापना एव रक्षा उसके प्रधान कर्तव्य थे।"[६] राज्य का आन्तरिक प्रशासन एवं बाह्याक्रमणों से देश की सुरक्षा इसी वर्ण के जिम्मे थी।"[७]

अधीतकाल का द्वितीय उपभाग यानि ३२२ ई० पू० से २०० ई० पू० अर्थात् मौर्ययुग भी क्षत्रियों की श्रेष्ठता का सक्षम साक्षी रहा। इसलिए नहीं कि मौर्य क्षत्रिय थे (?) इसलिए भी नहीं कि मौर्य शासकों ने क्षत्रियों को राज्य की ओर से कोई प्रश्रय, कोई वरीयता या कोई औपचारिक रूप से सर्वोच्चता की पदवी प्रदान कर दी थी वरन् इसलिए कि मौर्य शासकों ने गैर ब्राह्मण धर्मो को अपनाया। चन्द्रगुप्त मौर्य ने जैन धर्म स्वीकार किया तो सम्राट् अशोक ने बैद्ध धर्म अंगीकार किया न केवल अगीकार किया अपितु राज्याश्रय भी प्रदान किया। इन सारी बातों से जनता में जो संदेश गया उससे ब्राह्मण धर्म को बड़ी क्षति पहुँची एवं उसके वर्णनेता ब्राह्मणों को पिछले पैरों पर ला दिया। एक तो क्षत्रियों के द्वारा प्रवर्तित इन दो धर्मों ने ब्राह्मणो की सर्वोच्वता एव विशेषाधिकारो पर निर्णायक चोट दी और दूसरे इन्हीं दो धर्मो को कम से कम मौर्य युग तक तो लगातार ही राज्याश्रय भी मिलता रहा। यह दोहरी मार थी। सेनानी पुष्यमित्र शुंग द्वारा बृहद्रथ की हत्या से ही कुछ राहत मिली होगी और जब

मनुस्मृति राजा को विश्व की रक्षा के निमित्त उत्पन्न बताती है तो इस तरह के मन्तव्यों को ब्राह्मण राजा शुंग के सन्दर्भों में ज्यादा सुसगत तरीके से समझा जा सकता है।[११८]

क्षत्रिय वर्ण के जीविकोपार्जन का मुख्य आधार राजकीय सेवाएँ एवं सैन्य वृत्ति थी। राज्य का आन्तरिक प्रशासन एव बाह्याक्रमणों से सुरक्षा इसी वर्ण के जिम्मे थी।[११९] मज्झिम निकाय धनुष और बाण को क्षत्रिय की आजीविका का मुख्य साधन निर्दिष्ट करता है।[१२०] मनुस्मृति में भी शास्त्रास्त्रों को ही क्षत्रियों की जीविका का आधार बताया गया है।[१२१] परन्तु कालान्तर में यायावरी प्रवृत्ति के लोप, कृषि के कारण जीवन में आये स्थायीत्व के कारण युद्धों में कमी आयी होगी एव नवीन अर्थ संयोजन के दबावों के फलस्वरूप भी विहित वर्ण कर्तव्यों के दायरे से बाहर जाकर जीविकोपार्जन करना पड़ा होगा। सूत्रकारों एव स्मृतिकारों ने क्षत्रियों के किए यह व्यवस्था दी है कि यदि शस्त्र से जीविकोपार्जन कठिन हो जाए तो उन्हें वैश्य कर्म अपना लेना चाहिए।[१२२] बौद्ध साहित्य में क्षत्रियों को विभिन्न प्रकार के वर्णेतर कार्यों को करते हुए दिखाया गया है। जैसे कभी वणिक वृत्ति, कभी हस्त शिल्पी, कभी गायक-वादक, कुम्भकार तो कभी पाचक।[१२३] हॉ, ऋण के लेनदेन का कर्म उसके लिए वर्जित था।[१२४]

उपरोक्त विश्लेषणोपरान्त अब तृताय वण यान वश्य वर्ण की गतिविधियों, उनकी दशा एवं दिशा, उनके जीवन स्तर एवं विशेषकर आलोच्य कालावधि में उनकी व्यावहारिक उपयोगिता की पड़ताल आवश्यक प्रतीत हो रही है।

परम्परागत सामाजिक संगठन में तीसरे पायदान पर विराजमान वैश्य वर्ण समृद्धि के लिहाज से आलोच्य कालावधि में शायद पहली पायदान पर रहा होगा। सूत्रकारों ने ब्राह्मण और क्षत्रिय को स्वाभाविक रूप से जन्मना वैश्य वर्ण से श्रेष्ठ प्रतिपादित किया है।[१२५] सामाजिक प्रतिष्ठा के दृष्टिकोण से भी प्रथम दो वर्णों के बाद ही इन्हें परिगणित किया जाता था। अजीब पहेली है, वैश्य उत्पादकता के स्रोत थे, सामाजिक समृद्धि की रीढ़ थे व्यापार-वाणिज्य के प्रस्तोता थे, नगरीय क्रान्ति के केन्द्रबिन्दु थे परन्तु सामाजिक सम्मान की हिस्सेदारी में ये प्रायः परिधि पर ही चक्कर लगाते रहे।

प्रथम दृष्टया इनका सर्वप्रधान कर्तव्य कृषि, वाणिज्य एव पशुपालन ही प्रतीत होता है। यह जरूर था कि वैश्यों को भी ब्राह्मणों एव क्षत्रियों का भॉति अध्ययन यज्ञ एवं दान का अधिकार था।[१२६] आपस्तम्ब ने ब्राह्मणों के लिए यह विहित किया है कि यदि आवश्यक हो तों वे वैश्य से भी विद्याध्ययन कर सकते है।[१२७] इन उल्लेखों से यह सकेतित तो अवश्य होता है कि वैश्य अध्ययन-अध्यापन किया करते थे। लेकिन यह कितना सैद्धान्तिक एवं कितना व्यवहारगत था इसका निर्धारण थोडा कठिन प्रतीत होता है। इस प्रसग में बौधायन[१२८] की व्यवस्था कि कृषि और वेदाध्ययन परस्पर विरोधी है, ऐसा प्रतीत होता है कि एक उन्नत प्रबन्धन की चालाक सी व्याख्या है, इसने अतत वैश्यों को विद्याध्ययन से विरत किया और उनकी सारी सभावनाओं को उस व्यवस्था के लिए धनार्जन हेतु लगा दिया जिसके सर्वप्रथम उपभोक्ता प्रथम वर्णी रहे। गौतम ने[१२९] यह स्थापित किया है कि वैश्यों ने अपना पूरा समय धनार्जन के लिए कृषि, वाणिज्य, पशुपालन एवं कुसीद में ही दिया।

अपराध और दण्ड के क्षेत्र में फिर वही भेदपरक व्यवस्था लागू की जाती है। ब्राह्मण का अपमान करने पर क्षत्रिय १०० कार्षापण के अर्थदण्ड का भागी होता था, परन्तु ब्राह्मण यदि क्षत्रिय को अपमानित करे तो ५० कार्षापण और वैश्य को अपमानित करें तो २५ कार्षापण के अर्थ दण्ड का भागी होता था।[१३०]

अब एक अवलोकन बौद्ध साहित्य में इस वर्ण के उल्लेखों का करें। यहॉ वैश्य वर्ण के अवबोधक शब्द वेस्स, गहपति, सेट्ठि, कुटुम्बिक इत्यादि प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। 'गहपति' को लेकर एक आपत्ति उठाई जाती है कि यह सामान्य सा सम्बोधन है जिससे किसी भी वर्ण के सदस्य का बोध हो सकता है।[१३१] परन्तु यहॉ यह भी द्रष्टव्य है किं बौद्ध साहित्य का गवेषणात्मक अनुशीलन बहुत स्पष्ट रूप से यह अभिव्यंजित कर जाता है कि वहॉ 'गहपति' का सम्बन्ध वैश्य वर्ण से ही है।[१३२] जातियों की सूची में भी गहपति का उल्लेख ब्राह्मणों और क्षत्रिय के बाद तथा शूद्र से पहले आता है।[१३३] अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि बौद्ध वाङ्गमय का 'गहपति' वैश्य वर्ण का ही अवबोधक है।

'कुटुम्बिक' का अर्थ गृहपति यानि गृह स्वामी था। कुछ कुटुम्बिक नगरवासी थे जो धान्य के क्रय-विक्रय[१३४] एवं रूपयों के सूद पर लगाने का व्यवसाय करते थे।[१३५] गांवो में

निवास करने वाले कुछ कुटुम्बिक कृषक थे।[१३६] लेकिन दोनों ही रूपों में कुटुम्बिक काफी सम्पन्न थे।

'सेट्ठि', अथवा 'श्रेष्ठि' वैश्य वर्ग का सर्वाधिक धनी एव सम्पन्न सदस्य होता था ये राजसभाओं के सदस्य होते थे[१३७] जो सभव है वाणिज्य एवं व्यापार सम्बन्धी मसलों के विशेषज्ञ के तौर पर रहते होंगे। निश्चय ही अपनी आर्थिक समृद्धि के चलते यह वर्ग सामाजिक एवं राजनैतिक रूप से अपरिहार्य था। महावग्ग में राजगृह के सेट्ठि द्वारा व्यापार निगमों पर अनुग्रह का वर्णन है।[१३८] श्रेष्ठि अनाथ पिण्डक की कथा कौन नहीं जानता? एक श्रेष्ठि के द्वारा भिक्षु संघ को ८० करोड कार्षापण दान में दिए जाने का उल्लेख भी महत्वपूर्ण है।[१३९]

कई श्रेष्ठि तो बैंकपति थे। कई सार्थवाह एव इनके काफिलें सूदुर स्थानों से व्यापार और वाणिज्य के सिलसिलें में आते जाते रहते थे[१४०] जो निस्सदेह आलोच्य कालावधि में देश की आर्थिक संरचना में एक महत्वूपर्ण घटक रहा होगा।

अधीत काल के द्वितीय उपभाग यानि ३२२-२०० ई०पू० की कलावधि में वैश्यों की स्थिति की जानकारी प्रमुखतया कौटिल्य के अर्थशास्त्र से होती है। मनु स्मृति भी सहायक सिद्ध होती है।

कौटिल्य ने भी वैश्यों के कर्मों में अध्ययन, यजन, दान, कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य को ही परिगणित किया है।[१४१] मनुस्मृति में अन्य कार्यों के साथ-साथ यज्ञ करने एवं वेद पढ़ने को भी वैश्य कर्मों में रखा गया है।[१४२] तात्पर्य यह कि आलोच्य कालावधि में वैश्य अर्थव्यवस्था के केन्द्र में थे।

ब्राह्मण और क्षत्रिय की तरह वैश्य भी संकटापन्न होने पर विभिन्न वर्णेतर कर्म कर जीवन निर्वाह कर सकते थे। जैसे गौ, ब्राह्मण एवं वर्ण की रक्षा हेतु वैश्य के भी शस्त्र ग्रहण का विधान है।[१४३] गौतम ने आपद्धर्म के रूप में वैश्य को अपने से नीचे के वर्ण का कर्म अपनाने को कहा है।[१४४] मनु महाराज की व्यवस्था है कि वैश्य वर्जित कार्यों को त्याग कर शूद्र वृत्ति अपना सकता है।[१४५]

और अब अन्तिम वर्ण यानि 'शूद्र' वर्ण की स्थिति पर विचार यथोचित होगा ताकि आलोच्य कालावधि की एक संतुलित व्याख्या हो सकें। तत्कालीन समाज में इस वर्ण की अत्यन्त शोचनीय दशा थी। परम पुरूष के पैरों से उत्पत्ति के नाते परम्परागत रूप से इसका स्थान सबसे नीचे था, परन्तु इस काल में तो ऐसी जकड़बन्दी हुई कि आज तक ढीली नहीं पड़ी है।

तत्कालीन समाज शूद्र वर्ण की अत्यत संकुचित दयनीय एवं निकृष्टम अवस्था के लिए जाना जाता है। उच्च वर्णों की सेवा-सुश्रुसा एवं परिचर्या ही उसकी आजीविका का एकमात्र स्रोत थी।[१४६] वह सेवक वर्ग था, उच्च वर्णों की परिचर्या उसका धर्म था।[१४७] वह अन्न वस्त्र तक के लिए उच्च वर्णों पर आश्रित था। उच्च वर्णों के परित्यक्त वत्र, एवं उनके जूठन पर उसका जीवन चलता था।[१४८]

अब सवाल उठता है कि किन जातियों को शूद्र वर्ग में परिगणित किया जाता रहा होगा। गौतम ने कहा है कि शूद्र यांत्रिक शिल्पों को अपना कर अपना भरण-पोषण करता था।[१४९] तकनीकी विकास के चलते समाज में कई नए पेशेवर समूहों का जन्म हो रहा था। आनुवांशिक आधारों पर इनका विकास इन्हें जाति के रूप में संगठित कर गया। जैसे-बुनकर (तन्तुवाय)[१५०], बढ़ई (तच्चक)[१५१], लोहार (कम्मार कर्मार),[१५२] दन्तकार[१५३], कुम्हार[१५४] इत्यादि। जाति के आधार पर ही ग्राम बसने लगे जैसें कुम्भकार ग्राम[१५५], कम्मार ग्राम[१५६], जाति प्रमुखों को जेट्ठक कहा जाता था मसलन कम्भार जेट्ठक[१५७], मालाकार जेट्ठक।[१५८]

प्रो० रामशरण शर्मा का अभिमत बड़ा समीचीन जान पड़ता है कि शूद्र वर्ण के इन शिल्पी समूहों का मौर्य पूर्व काल की अर्थव्यवस्था में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान था।[१५९]

अनेक शूद्र जातियाँ ऐसी भी थीं जो असंगठित थीं एव भ्रमणशील रहती थी जैसे-नट[१६०], गंधर्व[१६१], सपेरे[१६२], शंखवादक[१६३],भेरीवादक[१६४], नेवला पालने वाला[१६५] इत्यादि।

एक तथ्य तो स्पष्ट हो जाता है कि शूद्र वर्ण हर तरह से वंचित तबका था। सामाजिक हैसियत सबसे नीचे। न कोई राजनैतिक प्रश्रय और न ही आर्थिक आधार आपस्तम्ब के अनुसार चाहे गॉव चाहे शहर अधिकारी के रूप में नियुक्ति तीन उपरी वर्णों के सदस्यों की ही हो सकती थीं।[१६६] उसके अधीनस्थ कर्मचारी भी तीन उच्च वर्णों के ही

होंगे।[१६७] अर्थात् शूद्रों को राजनैतिक एव प्रशासनिक गतिविधियो से बाहर ही कर दिया गया था।

आर्थिक रूप से उसे और अशक्त बनाया गया, न तो वह धन सग्रह कर सकता था और न ही उसका उपभोग कर सकता था। गौतम की व्यवस्था है कि कोई भी व्यक्ति, किसी भी तरह से, चाहे छल से या बल से, शूद्र से उसकी सम्पत्ति ऐंठ सकता है।[१६८] अब ये अलग बात है कि ऐसा कन्या के विवाह के लिए या किसी धार्मिक अनुष्ठान के लिए, किया जाता है। महत्वपूर्ण है कि शूद्र की सम्पत्ति का हरण होता है और यदि किसी भी तरह शूद्र कुछ धन सग्रह कर लेता था तो वह उसके स्वामी यानि उच्च वर्णों के ही किसी सदस्य का माना जाता था।[१६९] प्रो० आर.एस. शर्मा यह प्रतिपादित करते हैं कि किसी भी और धर्मसूत्र में शूद्र के धन हरण की ऐसी व्यवस्था नहीं की गई है।[१७०] परन्तु आगे चलकर मनुस्मृति[१७१] में कुछ ऐसी ही व्यवस्था के दर्शन होते हैं जिससे यह लगभग प्रमाणित हो जाता है कि यह कोई आकस्मिक उल्लेख नहीं अपितु एक सतत् व्यवस्था या कहें एक सायास साजिश थी।

सूत्र ग्रन्थों में उसे श्मशान की भॉति अपवित्र बताया गया है,[१७२] आपस्तम्ब की व्यवस्था में उसे उपनयन एव वेदाध्ययन से वंचित रखा गया है।[१७३] न तो कोई भी शूद्र वैदिक मंत्रों का श्रवण कर सकता था और न ही उनका उच्चारण क्योंकि गौतम ने ऐसी व्यवस्था दी है कि वैदिक मंत्रों को सुनने वाले शूद्र के कान में टीन या लाख का गला हुआ गरम पदार्थ भर देना चाहिए।[१७४] वैदिक ऋचाओं का पाठ करने पर किसी भी शूद्र की जीभ काट ली जाय[१७५] तथा यदि उसे वे मंत्र याद रह जाते हैं तो उसके शरीर के टुकड़े कर दिए जाएँ।[१७६] वशिष्ठ के अनुसार भी शूद्रों को धर्म सम्बन्धी कोई भी विषय जानने के अयोग्य घोषित किया गया है। प्रो. आर.एस. शर्मा[१७७] इस सारी कवायद को शूद्रों को उस विधि से अपरिचित रखने का प्रयास मानते है जिससे वे शासित होते थे।

न्याय और दण्ड विधान में तो भेदभाव अपनी पराकाष्ठा पर है। आपस्तम्ब और बौधायन ने शूद्र की हत्या के अपराध में वही प्रायश्चित निर्धारित किया है जो किसी राजहंस, मयूर, कौवे, कुत्ते, उल्लू, मेढक इत्यादि की हत्या के लिए किया जाता है।[१७८] क्योंकि ब्राह्मण किसी क्षत्रिय या वैश्य को गाली दे तो उसे जुर्माना देना पड़ना था, परन्तु शूद्रों को गाली दे

तो कोई सजा नहीं थी।[१७९] क्योंकि शायद यह कोई अपराध ही नहीं था। न्याय प्रक्रिया एव दण्ड विधान के क्षेत्र में भेद परक नियमों से आलोच्य कालावधि का समाज आकण्ठ निमग्न था जिनका बहुश उल्लेख[१८०] तत्कालीन साहित्य में पाया गया है।

कौटिल्य भी ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित परम्परागत वर्ण व्यवस्था का पोषक था अत बहुत स्वाभाविक है कि वह भी धर्मसूत्रों में वर्णित व्यवस्था को लागू करें। शूद्रों को अपने निर्वाह के लिए उसने भी द्विजातियों पर आश्रित बताया है। उच्चवर्णों की सेवा ही उसका प्रधान धर्म निरूपित किया है[१८१], किन्तु कुछ ऐसे भी व्यवसायों को अपनाकर उन्हें निर्वाह करते दिखाया गया है जो स्वतंत्र व्यवसाय थे।[१८२]

वस्तुतः उत्पादन पर राजकीय नियत्रण के चलते मौर्य काल में आर्थिक गतिविधियों का अभूतपूर्व विस्तार हुआ जिसके चलते शूद्रों की इतनी बडी आबादी को केवल दासता तक सीमित रखना अब अपने हितों के विरूद्ध जान पड़ने लगा परिणाम स्वरूप कौटिल्य ने उन्हें विभिन्न उत्पादक कार्यों में लगाया। प्रो शर्मा यह बताते हैं कि मौर्यकाल में बड़े पैमाने पर राज्य शूद्रों को गुलामों, मजदूरों एवं शिल्पियों के तौर पर नियोजित करता था।[१८३] दासों के भी बड़े पैमाने पर कृषि उत्पादन कार्य में नियुक्त करने का साक्ष्य है।[१८४] यद्यपि उन्हें मजदूरी मिलती थी[१८५], परन्तु वह इतनी कम होती थी कि न्यूनतम स्तरों पर ही जीवन निर्वाह हो पाता होगा। चूँकि दर नियत थी तो संभव है कुछ राहत मिली होगी।[१८६]

शूद्रों को सेना में बहाल करने की व्यवस्था भी अर्थशास्त्र में उपलब्ध है।[१८७] परन्तु यह उनकी सामाजिक स्थिति का कोई पैमाना नहीं है। यह मात्र उनके संख्याबल को इस्तेमाल करने के लिए था। इस जनबल का उपयोग अन्यत्र भी करते हुए पाया गया है। नई जमीन को खेती योग्य बनाने हेतु घनी आबादी वाले जगहों से, या दूसरे राज्यों से भी शूद्रों को स्थानान्तरित किया जाता था।[१८८] जनपद में निम्नवर्णी लोग बहुसंख्या में होने चाहिए[१८९] ताकि उनके श्रम पर उत्पादित अधिशेष पर उच्चवर्णी लोग निष्कंटक जीवनयापन करते रहें।

कौटिल्य ने सिर्फ चाण्डालों को घृणित माना है क्योंकि चाण्डालों को छोड़कर अन्य जातियों (रथकार वेण, नेषादों और पुक्कसों) को शूद्र वृत्ति अपनाकर जीवन निर्वाह की छूट

देते हैं।[९०] कौटिल्य की कुछ व्यवस्थाओं के हवाले से प्रो० शर्मा यह प्रतिपादित करते हैं कि तत्कालीन समाज में शूद्रों को कुछ धार्मिक एव शैक्षिक सुविधाएँ प्राप्त रही होंगी।[९१]

लेकिन ऐसा नहीं प्रतीत होता कि यह सामाजिक सदाशयता रही होगी। हॉ अर्थ के दबावों से निपटने के कुछ फौरी इन्तजाम जरूर हो सकते हैं क्योंकि कौटिल्य का स्पष्ट अभिमत हैं कि धनार्जन में धार्मिक औपचारिकताएँ व्यर्थ हैं।[९२]

मनु महाराज की व्यवस्थाओं में, बौद्ध मत एव मौर्य युग के तत्वावधान में ब्राह्मण समाज पर जो आघात हुए थे, उसकी क्षतिपूर्ति का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। सामाजिक नियमन के विधान तो लगभग धर्मसूत्रों की पुनरावृत्ति है।[९३] लेकिन आर्थिक दृष्टि से शूद्र वर्ण को हीन बनाए रखने के तमाम बौद्धिक व्यायाम[९४] के बाद भी मौर्य युग में आर्थिक गतिविधियों में इनकी बढ़ती हुई हिस्सेदारी को कम नहीं किया जा सका।[९५]

कौटिल्य के बाद मनु की व्यवस्था में निम्न वर्णों की आवादी को लेकर ठीक विपरीत मान्यताओं के दर्शन होते हैं। कौटिल्य की मान्यता है कि जनपद में निम्नवर्णी लोग अधिक सख्या में निवास करने चाहिए[९६] जबकि मनु महाराज इसके ठीक विपरीत अभिमत रखते हैं कि जिस राज्य में शूद्रों की जनसंख्या अधिक हो जाती है वह अकाल एवं व्याधि से पीड़ित होकर शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होता है।[९७]

कौटिल्य ने जिस आवादी को 'श्रम' की तलाश में एकत्र किया था बहुत संभव है इसने उन्हें तत्कालीन व्यवस्था के विरूद्ध भी गोलबन्द होने का अवसर प्रदान किया हो क्योंकि मनुस्मृति में सामाजिक उथल-पुथल के कई चित्र मिलते हैं।[९८] एक जगह तो बड़े स्पष्ट शब्दों में मनु ने क्रान्ति के परिणाम स्वरूप उच्च वर्गों को होने वाली असुविधाओं के परिशमन हेतु उनके शस्त्र ग्रहण का विधान किया है।[९९] औद्योगिक नहीं तो प्राक् औद्यौगिक समाज में यह मजदूरों की एकता का प्राचीनतम साक्ष्य तो नहीं ?

अव एक विचार दास प्रथा एव तत्कालीन समाज में दासत्व की अवधारणा पर भी आलोच्य कालावधि में दासता यद्यपि सिर्फ शूद्रों के लिए ही आरक्षित नहीं थी।[१००] तथापि अपनी जर्जर आर्थिक अवस्था एवं निम्नतम सामाजिक स्तर के चलते दासत्व की स्थिति तक

आधार पर ओल्डेनवर्ग के निष्कर्षण से सहमत हुआ जा सकता है कि यहाँ शूद्र और दास में कोई अन्तर नहीं किया गया है।[२०३] प्रो० रामशरण शर्मा अपने एक वैदुष्य विवेचन में लौह तकनीक के कृषि में प्रवेश को कृषि दासों के उद्‌भव का कारण ठहराते है। उनकी व्याख्या है कि लोहे के फाल ने बड़े-बड़े खेतों का अस्तित्व सम्भव बनाया। एक-एक घर के पास इतनी जमीन हो गई जिसे वे स्वयं के श्रम से नहीं जोत सकते थे।[२०४] फलत· बुद्ध कालीन विशिष्टता के तौर पर खेती में दासों का नियोजन सामने आता है और चरम पर इसका निदर्शन राज्य नियत्रित मौर्य युगीन अर्थ व्यवस्था में होता है।

कौटिल्य स्पष्ट तौर पर यह व्यवस्था देते हैं कि आर्य को दास नहीं बनाया जा सकता।[२०५] मनु भी इसी तरह का मन्तव्य रखते हैं और कहते हैं कि दासवृत्ति के लिए शूद्रों को ही क्रय किया जाय।[२०६]

बौद्ध साहित्य, अर्थशास्त्र एवं मनुस्मृति में दासत्व एव तद्‌जन्य परिस्थितियों के बहुविध चित्र अंकित हैं[२०७] पालि त्रिपिटक में आठ प्रकार के दासों का वर्णन हैं।[२०८] अर्थशास्त्र नौ प्रकार बताता है[२०९] जबकि मनुस्मृति में सात प्रकारों की चर्चा है।[२१०]

दासत्वके कारणों पर यदि विचार करें तो प्रथम दृष्टया जो कारण समझ में आते है, उनमें धनाभाव, ऋणग्रस्तता, युद्ध प्राकृतिक आपदाएं तो कभी-कभी न्याय एवं दण्ड विधान प्रमुख है, दासों की जीवन स्थितियों के बारे में सर्वाधिकार उनके स्वामी के अधीनस्थ था। दासो के प्रति बुरे या कहें, अमानवीय व्यवहार के निदर्शन होते हैं[२११] तो सहृदयता के दृष्टान्त भीमिलते हैं।[२१२] बहुत संभव है कि दास और स्वामी के सम्बन्ध सौहार्द्रपूर्ण ही होते रहे होंगे शायद इसीलिए यूनानी लेखक भारतीय समाज में दास प्रथा को चिन्हित नहीं कर पाए।[२१३]

'दासभोग'[२१४] शब्द के आधार पर दासों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार भी अनुमित किए गए हैं परन्तु स्वामी की सहमति के बिना यह सम्भव नहीं प्रतीत होता[२१५] दासों की मुक्ति के भी अनेक प्रावधान किए गए है। दीघनिकाय के अनुसार दासत्व से छुटकारा तीन स्थितियों में हों सकता था[२१६] (१) सन्यास लेने पर (२) स्वामी स्वयं मुक्त कर दे (३) आवश्यक शुल्क चुका देने पर कौटिल्य ने भी बड़े विस्तार से दासों की मुक्ति से सम्बन्धित स्थितियों का जायजा लिया है[२१७] उपरोक्त व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में यह लगभग प्रमाणित हो

जाता है कि आलोच्य कालावधि में दास प्रथा ऐतिहासिक विकास के क्रम में विद्यमान तो थी लेकिन समकालीन विश्व में अन्य अनेक देशों की अपेक्षा काफी मानवीय सहृदय एवं खुले रूपों में।

अधीत कालीन सामाजिक सरचना में पारिवारिक जीवन का अध्ययन एवं अनुशीलन उस काल की बेहतर एवं सापेक्षिक समझ के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। यदि परिवार के स्वरूप से प्रारम्भ करें तो सर्वप्रथम यह अभिज्ञात होता है कि प्राय परिवार सयुक्त ही होते थे।[२१८] हालॉकि पारिवारिक विघटन के भी साक्ष्य मिले हैं। कभी-कभी स्त्रियों के आपसी कलह के कारण[२१९] तो कभी आर्थिक दवाबों के चलते।[२२०] परन्तु बहुधा सम्बन्ध स्नेहिल बने रहते थे। परिवार का ज्येष्ठतम पुरुष सदस्य घर का मुखिया होता था। पिता की मृत्यु के बाद पुत्र सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते थे। परन्तु उत्तराधिकारी की अनुपस्थिति के अवसर पर सारी सम्पत्ति राज्य की हो जाती थी।[२२१] ज्येष्ठ पुत्र को सम्पत्ति में शायद कुछ अधिक हिस्सा मिलता रहा होगा।[२२२] जिसके चलते बहुत संभव है कि भाइयों में कभी-कभी विवाद भी उत्पन्न हो जाता रहा होगा, ऐसी स्थिति में उसका निराकरण 'वोहारिक महामत्त' करता था।[२२३]

सूत्रकारों ने पिता की मृत्यु के बाद बड़े भाई को पितृतुल्य बताया है एवं अनुजों से उसके नियंत्रण में रहने एवं समतुल्य सम्मान प्रदर्शित करने को कहा है।[२२४] पाणिग्रहण के बाद ही पारिवारिक जीवन का प्रारम्भ मानते हुए पारिवारिक जिम्मेदारियॉ उठानी पड़ती थी।[२२५] परिवार में माता की प्रतिष्ठा का विशद् वर्णन है[२२६] वैसे सामान्यतया स्त्रियों की स्थिति इस युग में पहले से कुछ बेहतर प्रतीत होती है, पुत्री का जन्म अब उतना कष्टकर नहीं रहा।[२२७] बुद्ध एवं महावीर ने स्त्रियों की स्थिति में गुणात्मक सुधार हेतु अप्रत्यक्षतः बडा काम किया। संघो में प्रवेश अपने आप में एक क्रान्तिकारी कदम था। थेरीगाथा में कई स्त्रियों को निर्वाण प्राप्त करते हुए बताया गया है।[२२८] जो यह अभिव्यंजित करता है कि बौद्धिक एवं दार्शनिक क्षेत्रों में वे भी पुरुषों के स्तर तक जाकर उच्चतम पद प्राप्त कर सकती थी।[२२९] बौद्ध विनय में एक भिक्षुणी को बड़े प्रशंसात्मक लहजे में पण्डिता एवं मेधाविनी इत्यादि कहा गया है।[२३०]

थेरी गाथा में एक कन्या को पिता की सम्पत्ति में हिस्सेदारी प्रदान की गई है[२३१] और आगे चलकर मनु ने भी कुमारी कन्या को प्रत्येक भाई के हिस्से में चौथाई हिस्से की अधिकारिणी घोषित किया।[२३२]

परन्तु चूँकि समाज पितृ सत्तात्मक ही था अतः परम्परागत रूप से स्त्री का स्थान पुरुष के नीचे था। वह हमेशा किसी न किसी पुरुष वर्ग के सदस्य के अधीन रखी गई कभीपिता के, कभी पति के, कभी पुत्र के।[२३३] पति सेवा स्त्री का परम धर्म बताया गया एव विवाह के उपरान्त आज ही की भाँति तत्कालीन समाज में भी स्त्री पर पति तथा सास-श्वसुर का अधिकार समझा जाता था।[२३४] आदर्श वधू एव गुणी पत्नी के लिए मनु एव याज्ञवल्क्य जैसे स्मृतिकारों की व्यवस्था है कि वह सदा प्रसन्न रहें घरकी प्रत्येक सामग्री सहेज कर रखे गृहकार्य में निपुण हो, अपव्यय न करें, पति के प्रिय कार्यों को करें, सास-श्वसुर की सेवा करें तथा सच्चरित्र एवं संयमी हो।[२३५]

तत्कालीन समाज में एक पत्नीत्व[२३६] एवं बहुपत्नीत्व[२३७] दोनों ही सुप्रचलित था एवं दोनों ही के पक्ष-विपक्ष में तमाम तर्क दिए गए हैं। सामान्यतः वैवाहिक सम्बन्धों में जातिगत बन्धनों की अहम भूमिका रहती थी परन्तु प्रेम विवाह के अवसरों पर इन बन्धनों के टूटने के साक्ष्य भी है।[२३८] विवाह की आयु के सम्बन्ध में भी अल्पायु एव परिपक्व आयु दोनों में ही विवाह विहित किया गया है। बौद्ध साहित्य में षोडषी कन्या का विवाह यानि सोलह वर्ष की उम्र में विवाह अच्छा माना गया है।[२३९] गौतम और पराशर ने बारह की अवस्था में विवाह उत्तम माना है।[२४०] सामान्यतः हिन्दू शास्त्रकारों ने बाल विवाह को समर्थन दिया है[२४१] परन्तु बौद्ध धर्म के प्रभाव में परिपक्वावस्था में विवाह को प्रोत्साहन मिलता प्रतीत होता है। इससे भी स्त्रियों की स्थिति में कुछ फर्क पड़ा होगा। प्रो० जी० एस० पी० मिश्र ने बताया है कि चूँकि बौद्ध संघ में अल्पायु में प्रव्रजित होना वर्जित था और चूँकि स्त्रियों ने बड़ी संख्या में प्रवज्या ली थी जो बड़ी उम्र में विवाह का एक साक्ष्य बन बैठता है।

पति या पत्नी में किसी पर भी विश्वास हनन का आरोप यदि प्रमाणित हो तो विवाह विच्छेद हो सकता था। विवाह विच्छेद का विधान धर्मसूत्रों[२४२] बौद्ध ग्रन्थों[२४३] एवं कौटिल्य के अर्थशास्त्र[२४४] तक में विहित है तो विधवा विवाह एवं पुनर्विवाह की संस्तुति भी विभिन्न मत

मतान्तरों के बीच की जा सकती हैं।[२४५] अधीत काल में स्त्रियों की सम्पत्ति के रूप में 'स्त्रीधन' का विशेष महत्व था।[२४६] परन्तु इस काल में स्त्रियों की सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों को निर्विवाद नहीं कहा जा सकता।

सती प्रथा के बारे में सूत्र साहित्य मौन है और बौद्ध साहित्य में भी इसका अनुल्लेख इसके तत्कालीन जीवन में अप्रचलन का साक्षी है। परन्तु स्ट्रैबों द्वारा तक्षशिला की स्त्रियों में इस प्रथा का प्रचलन बताया गया है।[२४७] पजाब की कठ जाति भी शायद यह प्रथा मानती रही हो।[२४८] वस्तुतः ये उल्लेख स्थानीय स्तरों पर किसी जनजाति विशेष द्वारा अपनाए गए अनुष्ठानों के ही प्रतीत होते हैं।

पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' में प्रयुक्त पद 'असूर्यम्पश्या'[२४९] के आधार पर पर्दा प्रथा की संभावना बताई गई है परन्तु तत्कालीन विकासशील प्रागौद्योगिक समाज में आधी आबादी को पर्दा में रखना वस्तुत· उन्हें उत्पादन की प्रक्रिया से बाहर कर देना था जो उस समय सम्भव नहीं था। उच्च वर्गों में हो सकता है थोड़ी बहुत पर्देदारी चल जाती रही हो।

तत्कालीन समाज में नगरीय जीवन के आवश्यक अग के रूप में गणिकाओं को प्रमुख स्थान मिला। भगवान बुद्ध द्वारा सुप्रसिद्ध गणिका अम्बपाली का आतिथ्य स्वीकार करना, उसके द्वारा प्रदत्त दान को बौद्ध संघ द्वारा स्वीकार करना[२५०] राजगृह में सालवती का गणिकाभिषेक[२५१] इत्यादि ऐसी घटनाएँ हैं जो यह प्रतिविम्बित करती है। उस समय गणिकाओं को निरादर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। राजवैद्य जीवक गणिका सालवती का पुत्र था परन्तु इस आधार पर उसकी प्रतिभा के साथ अन्याय नहीं हुआ[२५२] लेकिन सामान्य गणिकाओं की स्थिति एवं सामाजिक प्रतिष्ठा कोई बहुत अच्छी नहीं थी।[२५३] हाँ, राजगणिकाओं का जीवन स्तर एवं मान प्रतिष्ठा उच्चतम स्तरों की थी।

आलोच्य कालावधि में यदि लोगों की खान-पान सम्बन्धी आदतों पर विचार करें तो उसमें चावल को प्रमुख खाद्य पदार्थ के रूप में व्यवहृत पाते है। पालि पिटकों में,[२५४] गृह सूत्रों[२५५] में, एवं अष्टाध्यायी[२५६] में शलि (सालि), ब्रीहि (बीहि), महाब्रीहि एवं तण्डुल जैसी धान की विभिन्न किस्मों का उल्लेख तो भरा पडा है। अभिजात वर्गों द्वारा पुराना चावल पसन्द किया जाता था।[२५७] इसे पका कर भात[२५८] या ओदन[२५९] बनता था।

खीर भी एक लोकप्रिय व्यजन था। भगवान बुद्ध ने इसके पौष्टिक गुणों को बताते हुए भिक्षुओं के लिए सुबह में जलपान के लिए सर्वोत्तम निर्दिष्ट किया है।[२६०]

यवागू एक अन्य लोकप्रिय तरल भोज्य पदार्थ था जिसे तिल, चावल और मूग के मिश्रण से तैयार किया जाता था।[२६१] सामान्य जन के बीच 'सत्तू' उस समय भी बडा लोकप्रिय था।[२६२] 'पूवा' किसी विशेष अवसर पर बनाया जाने वाला विशिष्ट पकवान था।[२६३] पाणिनि ने 'पलल'[२६४] नामक एक मिष्ठान्न की चर्चा की है जो आज के तिलकुट की तरह का कोई पदार्थ रहा होगा। 'खज्ज' या 'खज्जक' जिसे आज खाजा के रूप में बेहतर जाना जा सकता है। इतना सुस्वादु बताया गया है कि किसी का ईमान डोल सकता था।[२६५] पाणिनि ने 'पिष्टक' का भी एक प्रमुख भोज्य पदार्थ के रूप में उल्लेख किया है।[२६६] दूध, दही घी एवं मक्खन इत्यादि का भी उस समय भोजन में महत्वपूर्ण स्थान था।[२६७] दही से बनाये जाने वाले व्यंजन 'शिखरिणी' का भी जिक्र जैन ग्रन्थ में आया है।[२६८]

तत्कालीन समाज में मांसाहार भी पर्याप्त प्रचलित था। यहॉ तक कि बौद्ध भिक्षुओं द्वारा भी भिक्षा के रूप में मांस स्वीकार किया जाता था।[२६९] भगवान बुद्ध ने स्वयं सूकर मार्दव खाया था।[२७०] मांसाहार के बड़े पैमाने पर प्रचलन के फलस्वरूप ही इस तरह के कर्मो को अपनाकर जीविकोपार्जन करने वाली अनेक पेशेवर जातियों के अस्तित्व की सूचना मिलती है[२७१] जैसे गोघातक, अजघातक, शूकरघातक, भृगलुब्धक, इत्यादि। सूत्रग्रन्थों में भी मांसाहार से सम्बन्धित उल्लेख प्राप्त होते है। अतिथि सत्कार हेतु[२७२] भोजन में मांस की व्यवस्था की जाती थी। श्राद्ध[२७३] तथा मधुपर्क[२७४] के अवसर पर गोमांस-ग्रहण भी अभिहित पाते हैं। मुर्गे, कौवे, मोर, क्रौंच, कबूतर एव हंस इत्यादि पशु-पक्षियों के मांसाहार के बहुशः उल्लेख प्राप्त है[२७५] मछलियों के मांस के प्रति भी लोगों भी रुचि कुछ अधिक ही प्रतीत होती है[२७६] और सर्पभक्षण[२७७] भी अनजाना नहीं था। ब्राह्मणों के लिए भी मांस अखाद्य नहीं था। मनु ने ब्राह्मण अतिथि को मांस खिलाने की व्यवस्था की है।[२७८] यूनानी लेखकों के द्वारा भी गृहस्थ ब्राह्मणों में मांसाहार प्रचलित बताया गया है।[२७९]

बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में समान रूप से मद्यपान को बहुप्रचलित बताया गया है।[२८०] ब्राह्मण, पुरोहित, श्रमण एवं भिक्षु इत्यादि के वर्गों को छोड़ दें तो अन्य सभी के लिए

मदिरापान पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था।[२८१] मधुशाला में सपत्नीक जाना[२८२] या तो स्त्रियों में भी सुरापान के प्रचलन का प्रमाण है या तो मधुशाला की इस हद तक स्वीकृति का कि परिवार के साथ भी वहाँ जाना बहुत अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता होगा। मधुशाला में लोगों की भारी भीड़ जमा रहती थी एवं सुरा घडो में भर कर रखी रहती।[२८३] मद्यपान के साथ कुछ आधिभौतिक तत्व भी जुड़े प्रतीत होते है क्योंकि पितरों को भी सुरा अर्पित की जाती थी।[२८४] उत्सव एवं आनन्द के विशिष्ट अवसरों पर मद्यपान आवश्यक रस्म की भाँति होता था।[२८५] इसके औषधीय गुणों ने भी इसे लोकप्रिय बनाया होगा।[२८६]

इन सबके बावजूद धर्मशास्त्रों में ब्राह्मणों के लिए सुरापान पर बहुत कड़ा प्रतिबन्ध लगाया गया था।[२८७]

यह दुष्कर्म था।[२८८] मद्य की मादकता में, ब्राह्मणों से कोई अब्राह्मणोचित कार्य न हो जाए मनुस्मृति में इसका निषेध इसीलिए है।[२८९] बहुत संभव भी प्रतीत होता है कि सुरा की मादकता में ब्राह्मण अपना ब्राह्मणोचित गर्व एव विशिष्टता भूल जाते रहे होंगे और व्यवहार के स्तर पर अन्यों के साथ आ मिलते रहे हों, उसी तरह गिरना लुढ़कना-इससे जो एक सायासपन से बनाई गई दूरी एवं श्रेष्ठता का आभामण्डल था उसके क्षीण हो जाने की संभावना रही होगी।

आलोच्य कालावधि में वेश विन्यास एवं अलंकरण की विवेचना के क्रम में उचित परिधान एवं अनुकूल आभूषणों के बहुशः उपयोग एवं प्रचलन के पर्याप्त प्रमाण प्राप्त होते हैं। अन्तरवासक (धोती) एवं उत्तरीय (दुपट्टा) बहुप्रचलित परिधान प्रतीत होते हैं।[२९०] साड़ी स्त्रियों का आम पहनावा था तो 'धोती' पुरुषों के बीच यही हैसियत रखती थी।[२९१] कंचुक स्त्री-पुरुष दोनों पहनते थे।[२९२] पुरुषों के लिए आधुनिक कुर्त्ते की तरह तो स्त्रियों की खातिर 'चोली' जैसा आकार रहा होगा।[२९३] कपास रेशम, ऊन, सन एवं क्षौम से बने वस्त्र[२९४] व्यवहार में तो थे ही चमड़े से बने वस्त्र परिधान भी उल्लिखित है[२९५] जिन्हें शायद भिक्षु या तपस्वी पहनते रहे होंगे। कपड़ों की सिलाई दर्जी करते थे।[२९६] परन्तु बौद्ध भिक्षु अपने वस्त्र स्वयं ही सिला करते थे इसलिए सुई और कैंची प्रायः वे अपने साथ ही रखा करते थे।[२९७]

पगड़ियों की विविधता एवं उनकी आकर्षक आकृतियाँ देखकर इनके प्रति लोगों की रुचि एव चयन में विशेष सजगता का बोध होता है।[२९८] विभिन्न आकार-प्रकार के जूते पहने जाते थे। सिह बाध, चीता गिलहरी इत्यादि पशुचर्मो से बने जूते[२९९] कई तल्लो के होते थे।[३००] लकड़ी की पादुकाए़ तथा बांस निर्मित चप्पलें भी प्रचलित थी।[३०१] पादुकाएँ सोने-चॉदी से अलकृत भी बताई गई है[३०२] जो शायद उच्चवर्गों द्वारा प्रयुक्त होती थी।

शृंगार तथा सौन्दर्य प्रसाधनों के बारे में सजगता एवं जानकारी आला दर्जे की थी। भिक्षुओं के लिए दाढ़ी-मूँछ की मनाही थी परन्तु आम जनता इनकी विभिन्न शैलियों से परिचित प्रतीत होती है।[३०३] आमतौर से लोग लम्बे बाल अधिक पसन्द करते थे एव कंघी से उसे सॅवारने में भी अपनी सौन्दर्य प्रियता का इस्तेमाल करते रहे होंगे।[३०४] मुख के सौन्दर्य को बढाने के लिए 'मुख राग' एवं सम्पूर्ण शरीर को कान्तियुक्त करने के लिए 'अंगराग' का प्रयोग होता था।[३०५]

बौद्ध ग्रन्थों एव सूत्र ग्रन्थों से तत्कालीन समाज में स्त्री-पुरुष दोनों की ही आभूषण प्रियता के साक्ष्य खोज निकाले गए हैं। दक्ष स्वर्णकार अपनी कल्पनाशीलता के बल पर तत्कालीन लोगों की कलाप्रियता को सतुष्ट करते हुए अंगूठी, कुण्डल, हरि, कंगन, चूड़ी इत्यादि प्रचलित आभूषण बनाते थे।[३०६] मणि, वैडूर्य, भद्रक, शख एव शिलाप्रवाल तथा मसारगल्ल का उपयोग भी आभूषणों के निर्माण में होता था।[३०७] इत्र[३०८] एवं विभिन्न प्रकार के सुगन्धित पदार्थो[३०९] से जन सामान्य भलीभॉति परिचित था। आभूषणों के प्रयोग से स्त्री का आकर्षण बढ़ता है ऐसी मान्यता स्वरूप स्त्रियों में आभूषण के प्रति प्रेम कुछ अधिक ही प्रतीत होता है।[३१०] मालाओं एवं पुष्पों से भी शरीर को अलंकृत करने की विधि लोग जानते थे[३११] इसीलिए मालाकारों द्वारा विभिन्न किस्म की मालाएँ बनाने का उल्लेख आया है।[३१२]

ऋग्वैदिक समाज जब मूलतः पशुचारी एवं यायावरी था, युद्धरतता उनके जीवनचर्या का हिस्सा थी तब भी आमोद-प्रमोद एवं मनोरंजन के बहुविध चित्र हमें आश्चर्य चकित कर देते हैं और आलोच्य कालावधि तो कृषि आधारित अर्थव्यवस्था पर पूर्ण विकसित उपभोक्ता समाज है जिसमें एक सुरुचि सम्पन्न समाज की कलाप्रियताएवं मनोरंजन के साधन एवं अवसर सर्वथा सुलभ थे।

उस समय कुछ लोग जो काफी सम्पन्न रहे होंगे मौसमों के अनुसार अलग-अलग भवन बनाते थे।[३१३] थेरगाथा से प्राप्त एक विवरण राजाओं की संगीत प्रियता का साक्ष्य है।[३१४]

तो संगीत के सरक्षण का सरकारी प्रयास भी। आमोद-प्रमोद एव नृत्य संगीत के लिए सम्पन्न लोग नृत्यागनाओं द्वारा सेवित होते थे।[३१५]

मल्लक्रीडा जनता में विशेष लोकप्रिय थी। यह सर्वसुलभ आमोद-प्रमोद एव मनोरंजन का साधन थी।[३१६] इसे देखने के लिए बडी भीड़ उमडती थी।[३१७] पालि विनय में एक भिक्षुणी का उल्लेख आया है जो पहले मल्ली थी एव पुरानी आदत के तौर पर भिक्षुओं को पटक दिया करती थी।[३१८] पाणिनि ने प्रहरण क्रीड़ा नामक ऐसे समारोह का जिक्र किया है जिसमें शायद सैन्य कुशलता अस्त्र-शस्त्रों का प्रदर्शन एव उनके सचालन की विधि प्रदर्शित की जाती थीं।[३१९] मुर्गों, मोरों, भैंसों, हाथियों एव घोडों को लडाकर लोग दांव भी लगाते थे।[३२०] आधुनिक काल की तरह के मेले लगाये जाते थे जो कभी एक सप्ताह तो कभी एक माह तक चलते थे[३२१] कौमुदी महोत्सव का आनन्द सभी स्त्री-पुरूष समान रूप से उठाते थे राजगृह[३२२], वाराणसी[३२३] तथा श्रावस्ती[३२४] में इसके भव्य आयोजन का वर्णन है शाल भञ्जिका एक अन्य उत्सव था जिसे शाल के पुष्पों को तोड़कर विविध मनोरंजक क्रीणाएँ करते हुए मनाया जाता था।[३२५] हस्तिमगल[३२६] अभिजात वर्ग का समारोह प्रतीत होता है, क्योंकि इसे राजांगण में आयोजित किया था जहां सबकी पहुच तो नहीं ही होती होगी। सामूहिक उत्सवों के लिए प्रयुक्त शब्द वैदिक काल का 'समन'[३२७] आलोच्य काल में पाणिनि के 'समज्या'[३२८] का रूप ले लेता है। अष्टाध्यायी[३२९] में 'नटसूत्र' का उल्लेख नाट्यविद्या से परिचय का तो द्योतक है ही इसके प्रदर्शन, में भी परिचायक साक्ष्य बौद्ध विनय में मिल जाते हैं।[३३०]

तिथियों तथा नक्षत्रों के प्रति विश्वास,[३३१] यात्रा विचार[३३२] जैसे कर्मकाण्डीय विश्वासों एवं अन्धविश्वासों का प्रचलन तो था ही विविध धार्मिक अनुष्ठानों[३३३] में भी जनता की रूचि प्रतीत होती है। अतिथि सत्कार की भावना भारतीय समाज की हमेशा से ही 'अतिथि देवो भव' की रही है। अतिथियों का स्वागत एवं आव भगत विशेष आस्था से की जाती थी।[३३४] सामान्य सामाजिक शिष्टाचार अपनी पूरी गरिमा के साथ निभाया जाता था।

तात्पर्य यह कि आलोच्य कालावधि एक परम्परावादी एवं प्रगतिशील समाज के संश्लिष्ट चरित्रों का आदर्श परिपाक प्रस्तुत करती है।

संदर्भ संकेत एवं टिप्पणियाँ

१ पूर्ण विवरण के लिए द्रष्टव्य शर्मा रामशरण, शूद्राज इन एशियण्ट इण्डिया द्वितीय सस्करण, दिल्ली- १६८०, पृ० ६५-६८, ३१५-१६

२ शर्मा रामशरण भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाएँ, पृ० १५८

३ जातक, ३-२६३ ४-२७६- ये दो उल्लेख मगध क्षेत्र के हैं सुत्तनिपात १-४। यह उल्लेख काशी क्षेत्र का है। यें सभी बडे प्रक्षेत्रों के उल्लेख हैं जिन पर ब्राम्हणों का स्वामित्व था।

४ फिक, दि सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ इस्ट इडिया इन बुद्धाज टाइम पृ०- ३१४, दत्त, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ कास्ट, पृ० २६८-६६

५ फाइजर, दि प्राब्लम आफ दि सेट्ठि इन बुद्धिस्ट जातकाज, (आर्कीव ओरियण्टलानी, प्राग, २२), पृ० २३८-२६५

६ ओझा आदित्य प्रसाद, 'प्राचीन भारत में पराधीन समुदाय का सामाजिक स्तरीकरण, हिन्दी कलम, स०- नीलकान्त, अक-२, जनवरी-जून-१६६५, पृ०-८७।
विस्तृत विवरण हेतु, द्रष्टव्य
ओझा, आदित्य प्रसाद, प्राचीन भारत में सामाजिक स्तरीकरण, इलाहाबाद, १६६२।

७ वही, पृ० ८७, विस्तृत विवरण हेतु- द्र०- वही अध्याय-२।

८ वही, पृ० ८७, विस्तृत विवरण हेतु- द्र०- वही अध्याय-३।

६ ओझा आदित्य प्रसाद, प्राचीन भारत में सामाजिक स्तरीकरण, आमुख, पृ० १४-१५, अध्याय-४।

१० विशिष्ट आर्थिक-गतिविधियॉ-लौह तकनीक का कृषि एव दस्तकारी में प्रयोग, अधिशेष उत्पादन नगरीकरण, शिलपौद्योगिक अर्थव्यवस्था, मुद्रा अर्थव्यवस्था का सूत्रपात, व्यावसायिक सघों एव श्रेणी सगठनों का विकास जबरदस्त व्यापारिक एव वाणिज्यिक गतिविधियों से आशय।

११ काणे, पी०पी०, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्राज, जि० २, भाग- १, पृ० ४२। अग्नि, बृहस्पति-ब्राह्मण वर्ण के इन्द्र, वरूण, सोम, यम-क्षत्रिय वर्ण के वसु, रूद्र, विश्वे देवा तथा तथा मरूत् वैश्य वर्ण के पूषण-शूद्र वर्ण के।

१२ पागजिक, पृ० ३०६, (ब्राह्मणोनाम् जातिया ब्राम्हणो)

१३ गौतम धर्मसूत्र, २१ ६-१०, १८ २४, ४ १४,
बौधायन धर्मसूत्र, १ ६ ३, आपस्तम्व धर्मसूत्र, १ २ ४ ६ ५,।

१४ फिक, दि सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ इस्ट इण्डियाँ इन बुद्धाज टाइम, पृ० ३०-३१।

१५. पाचित्तिय ग्रामों पृ० ६-१०।

१६. बौद्ध पिटकों में अनेक ब्राह्मणों ग्रामों का उल्लेख आता है जैसे- खानुमत (दीघ निकाय १, पृ० १२७), एक नाल, (बुक आफ किड्रेड सेइग्स १, पृ० २१६), सार्लिन्दय, (जातक ३, पृ० २६३), जातक ४, पृ० २७६, इत्यादि।

१७. वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ८५-८६।

१८ वही।

१६. जातक २, पृ० ३६, जातक ४, पृ० ४१३, जातक ६, पृ० ७१।

२०. जातक ४, पृ० २००, ३७६, ३६०, महावश ४/४१।

२१ मिश्र, जी०एस०पी०, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थ व्यवस्था, पृ० १३७।

२२. आपस्तम्ब धर्मसूत्र II- १, २, ८-६
बौधायन धर्मसूत्र प्रथम-१, ५ ६ ५, १ ५ ११ ३६।
गौतम धर्मसूत्र, XIV ३०, वशिष्ठ ध०सू०, XXIII, ३०, (धर्मसूत्र १४ ३०, वशिष्ठ धर्मसूत्र २३, ३०)

२३ अष्टाध्यायी, २.४ ११०

२४. टी० डब्ल्यू राइज डेविड्ज, डायलाग्स, आफ द बुद्ध, भाग १, पृ० ६६-१००, अम्बट्ठसुत्त की भूमिका।

२५ देखें- इसी अध्याय में सदर्भ स०- २२।

२६. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २, ४, ६, ५, XI ६
गौतम धर्मसूत्र, १५ २४।

२७. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.३.६ १५, गौतम धर्मसूत्र १४.१६, वरिशष्ठ धर्मसूत्र, १३.११।

२८ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.३ ६.१७,

२६. वशिष्ठ धर्मसूत्र, २३, ३४।

३० मज्झिम निकाय, ३, १६६-७८, २

३१ शर्मा, रामशरण, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० ११८।

३२ शर्मा रामशरण, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० ११८।

३३ विनय पिटक, ४, ४-११, शर्मा रामशरण, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० ११८, सन्दर्भ स०- ३४२।

३४ जातक, २, पृ० २००, ६, पृ० ७१, १७०
जातक ५, पृ० ११०, ३३७
मनुस्मृति, १०/४८, इसकी तिथि अपेक्षाकृत बाद की है परन्तु इसमें निषाद के कर्म में मछली मारना बताया गया है।

३५ जातक, ६, पृ० ७१,

३६ फिक रिचर्ड, सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ इस्ट इण्डिया इन बुद्धाज टाइम, पृ० ३२२

३७ गृह्यसूत्रों में उसके उपनयन सम्बन्धी विधान भी प्राप्त होते हैं जो निश्चित ही उसकी उच्चतर सामाजिक हैसियत का द्योतक हैं। यथा-भारद्वाज गृह्यसूत्र I, १, वसन्ते ब्राह्मणमुपनीत वर्षा रथकार शिशिरे वा, बौधायन गृह्यसूत्र II, 5 6 , II, 8 5 जैमिनी मीमासा सूत्र, VI 1 50

३८ जातक, VI, 51, द्र०-पेतवत्थु अठकथा, III, १ १३
बोस, सोशल एण्ड रूरल इकानामी आफ नार्दर्न इण्डिया, II, पृ०-४५६

३६ अगुत्तर निकाय, 1, पृ०-१११-११३

४० शर्मा, आर एस., शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० १२०

४१ वोस, पूर्वोद्धधृत, II, पृ०- ४५४-५५
जातक, IV पृ०-२५१ इन उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि 'वेण' जनजाति वॉस के काम एव शिकार द्वारा जीवनयापन करती थी।

४२. सेक्रेड वुक्स आफ दि ईस्ट, XI, पृ०- १७३
जातक V, पृ०-३०६, वेण जाति ति तक्षक जाति

४३ जातक V पृ०-३०६

४४. सुत्तनिपात, १ ७ २१, ३.६.५७,

४५ विमानवत्थु, ५ १३.१५, पेतवत्थु, २ ६.१२,

४६. मज्झिम निकाय, १, पृ०-२११, II, पृ०-१८२-८४,
सयुत्त निकाय, I 99, विनय पिटक II, पृ०-२३६
अंगुत्तर निकाय, IV, पृ०-२०२, दीघ निकाय, III, पृ०-८०-६८

४७ जातक, III, पृ०-१६४, IV, पृ०-३०३.

४८ जातक, IV, पृ०-२००.

४६. जातक, IV, पृ०-२००

५०. जातक, III, पृ०- २३३-३५

५१. दस.कु., पृ०-४५. जैन ग्रन्थ पृ -२२६
इस परवर्ती जैन ग्रन्थ में मातग से राजा के द्वारा शिक्षा ग्रहण का उल्लेख है।
उत्तरा, XII, यह ज्ञात होता है कि एक सोवाग (श्वपाक) हरिशेन एक ब्राह्मण को विभिन्न उपदेश देता है। आयारग सुत्त, II १.२.२.

५२ सुत्त निपात १ ७ २२-२३
१.७.१३७-३६ सुत्तनिपात, सुत्तनिपात के कुछ प्रकरण बौद्ध साहित्य में प्राचीनतम होने का दावा करते हैं। इसमें विख्यात मातग का उल्लेख है जो कई ब्राह्मणों एव क्षत्रियों से श्रेष्ठ था एव तपबल से देवयान पर सवार होकर ब्रह्मलोक तक पहुँचने में समर्थ हो सका था।

५३ अर्थशास्त्र, ३.७.३७ (शूद्र सधर्माणो वा, अन्यत्र चण्डालेम्य ।

५४. अर्थशास्त्र, २ ४ २३, षाषण्ड चाण्डालाना श्मशानान्ते वास ।

५५. अर्थशास्त्र, ३.१६.६, अवगूर्णे निष्क्रय , सपर्शेऽर्धदण्ड
अर्थशास्त्र, ३.१६.१०, तेन चण्डालाशुचयो व्याख्याता।

५६ अर्थशास्त्र, ४, ७ २५-२६

५७ अर्थशास्त्र, ३.३ २८

५८ अर्थशास्त्र, २ १.६

५६ मिश्र, जी० एस० पी०, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था, पृ०-१३८

६० आपस्तम्ब धर्मसूत्र,१ १ १ ५, (तेषा पूर्व जन्मतश्श्रेयान्)

६१ गौतम धर्मसूत्र, १ ८ १३,

६२ गौतम धर्मसूत्र, ६ १, (राजासर्वश्रेष्ठे ब्राह्मण वर्जनम्)

६३ गौतम धर्मसूत्र, १२ ४३ (न शारीरी ब्राह्मण दण्ड)

६४ वशिष्ठ धर्मसूत्र, १ ४४-१०६, (इष्टापूर्तस्य तुषष्ठमश भजतीति। ब्राह्मणों वु वेद पाठ्य करोनि ब्राह्मण आपद्उद्धरति)

६५ मिश्र, जी० एस० पी, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था, पृ०-१३८

६६ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २ १० २४ १०

६७ गौतम धर्मसूत्र, ५ १८,
आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २ ६ १५.६-१०, धार्मिक कृत्यों यथा भोज आदि के अवसरों पर विद्वान ब्राह्मण को प्राथमिकता मिलती थी।

६८ जातक, १ पृ०-४३६
सेक्रेडबुक्स आफ दि इस्ट जि०-२६, पृ०-२३३।

६६ जायसवाल, हिन्दूपालिटी, पृ०-१६३

७० जातक, १ पृ०-२८६, कुणाल जातक, (५३६)
जातक, ३ पृ०-४१७ दुर्दिन में भी राजा और पुरोहित के अटूट सम्बन्धों का वर्णन

७१ आपस्तम्ब धर्मसूत्र १ ७.२० ११

७२ गौतम धर्मसूत्र, १०.५

७३ बौधायन धर्मसूत्र, १ १ २०, गौतम धर्मसूत्र, १ ७ २५ (प्राण सशये ब्राह्मणोपि शस्त्रमाददीत)

७४ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १ १० २६.७

७५ मज्झिम निकाय ६८, सुत्तनिपात, ३.६ जातक, २, १६५, ४, २०७, ५ २२

७६ वौधायन धर्मसूत्र, १ ५.१०१, गौतमधर्मसूत्र, १ ७ ८, (तस्य वैश्यवृत्ते ब्राह्मणस्या पण्येन विक्रेय वक्ष्यते)

७७. दीघनिकाय-सोणदण्डसुत्र, कूट दण्ड सुत्त;
सुत्तनिपात, कासिभारद्वाज सुत्त, मज्झिम निकाय, २, पृ०-२०२
सोणदण्ड को ब्रह्मदेय के रूप में चम्पा ग्राम मिला था- दीघनिकाय, १, पृ०-१११ कूटदण्ड को खानुमत ग्राम मिला था-दीघनिकाय, ३, पृ.-१२७

७८ बौधायन धर्मसूत्र, ५ ६५

७६. गौतमधर्मसूत्र, ७ १.२४

८० आपस्तम्ब धर्मसत्र, २ १०.२६ १०

८१ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.४.१४.२३

८२. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २.१०.२७ १६-१७ (चक्षुनिरोध धस्त्वेतेषु ब्राह्मणस्य)

८३ गौतमधर्मसूत्र, २१ ६ १० (शतक्षत्रियों ब्राह्मणाकोशे, ब्राह्मणस्तु क्षत्रिये पचाशत)

८४. गौतमधर्मसूत्र, ८ ५, ११ ५-६

८५. रतिलाल एन० मेहता, श्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ०-२४६

८६ जातक, ६, प्र०-२०८

८७. सुत्तनिपात, १ ७ १३६ १४२
न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणों
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणों

८८. मज्झिमनिकाय, २ पृ०-१५०

८६ अर्थशास्त्र, ३ ५

६० मनुस्मृति १.६६.ब्राह्मणोजायमानों हि पृथि०यामधिजायते।
ईश्वर सर्वभूताना धर्मकोशस्त गुप्तये।।

६१. मनुस्मृति, ६, ३१७, अविद्धाश्चैव विद्वाश्च ब्राह्मणों दैवत महत्।

९२ मनुस्मृति, ६ ३१६, एव यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणा पूज्या परम देवत हितत्।।

९३ मनुस्मृति ८ २६८-६७ शुद्रस्तु बधमर्हति

९४ गौतम धर्मसूत्र, ८ १
द्वौ लोके धृतवतौ राजा ब्रह्मणश्च बहुश्रुत

९५ गौतमधर्मसूत्र, ६ १४
ब्रह्मप्रसूत हि क्षत्रमृध्यते न व्यथत इति विज्ञायते।

९६ गौतमधर्मसूत्र, १० १-३, ७ ५०

९७ गौतमधर्मसूत्र, २.२-६, वर्णानामाश्च न्यायतोऽमिरक्षेत ७ ५० राज्ञीधिक रक्षण सर्वभूतानाम्।

९८ गौतमधर्मसूत्र, २ २३,
त्रय्यामान्वी शिक्या वादभिविनीत'

९९ शाखायन श्रौतसूत्र, १ ५ १३ ४, १५ १ ११

१०० गौतमधर्मसूत्र, २१ ६ १०
शतक्षत्रियों ब्राह्मण कोशे। ब्राह्मणश्च क्षत्रिये पचाशत

१०१ गौतमधर्मसूत्र,११.२, द्विजाति नामध्ययनभिज्यादानम् दानम
बौधायन धर्मसूत्र, १.१० २-५

१०२. चुल्लवग्ग, ६ १.४ ; मज्झिम निकाय, २ पृ० १२८, ३ पृ० १७७
अगुत्तरनिकाय, २, पृ०-१६४, ३ पृ० २१४, ४, पृ०-१२६-३४,
५, पृ० २६०-६१, विमानवत्यु, ५ १३.१५, पेत्तवत्थु, २ ६ १२, जातक, १, पृ०-३२६, ३ पृ०-१६४,

१०३ दीघनिकाय, १ पृ०-९८

१०४ जातक, १ पृ०-४६

१०५. सेक्रेड बुक्स आफद इस्ट, २२ पृ०-२१८-२६, कल्पसूत्र, जैन सूत्राज, भाग, १, पृ० २२६ २२६

१०६. दीघनिकाय, १, पृ० - ९६, अगुत्तर निकाय, ५ पृ०-३२७-२८

१०७ मज्झिमनिकाय, २ पृ०-१२८

१०८. द्र० प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में प्रथम अध्याय की सन्दर्भ सख्याएँ-१५६, १६०, १६१, १६२

१०९ मिश्र जी० एस० पी०, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थ व्यवस्था पृ०-१४१-४२
सिह मदन मोहन, बुद्ध कालीन समाज और धर्म, पृ०-२१

११० जातक, ३ पृ०-१२२

१११ मिश्र जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ०-६३ सिह मदन मोहन, पूर्वोक्त, २१

११२. महावग्ग पृ० २६०, राजा मुख मनुस्सान

११३. जातक, ५, प१ृ०-२५७

११४ रीजडेविडस, बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ०-३७-३८

११५. गौतम धर्मसूत्र १०.१-३, ७ ५०

११६ गौतम धर्मसूत्र, २ २-६, वर्णानामाश्च न्यायतोभिरक्षेत्

११७ गौतम धर्मसूत्र, १०.१-३
७.५०, राज्ञीधिक रक्षणं सर्वभूतानाम्

११८. मनुस्मृति, ७, २, ८

११९ . गौतम धर्म सूत्र, १०, १-३, ७, ५०

१२० . मज्झिम निकाय, नालदा संस्करण, जिल्द-२, पृ०-१८०,

१२१ . मनुस्मृति, ११-१४

१२२. गौतमधर्मसूत्र ७.२६, (प्राणसशये राजन्यो वैश्य कर्माऽऽददीत) बौधायन धर्मसूत्र, २ २.७७, तुलनीय मनुस्मृति, १०.९०; १०.८२; १०.८५,

१२३ . जातक, ४, पृ०-८४, १६६
जातक ५, पृ०-२६०-६३

१२४ . बौ० ध० सू०, १.५.९३-९४, मनु ने भी ब्याज लेकर रुपया के लेनदेन को गर्हित माना है परन्तु धर्मार्थ बहुत थोड़े ब्याज पर कभी-कभी इसमें छूट दिया है, १०-११७

१२५ आपस्तम्ब धर्मसूत्र १ २१ ५, चत्वारौ वर्णा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रा।
नेषां पूर्व पूर्वो जन्मत श्रेयान्
गौतम धर्मसूत्र, २१ ६

१२६ गौतम धर्मसूत्र, १० १-३

१२७ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २ २ ४ २५-२८

१२८ बौधायन धर्मसूत, १ ५ १०१,
(वेद कृषि विनाशाय कृषिर्वेद विनाशिनी)

१२६ गौतम धर्मसूत, १० १ ३
(वैश्ययस्याधिक कृषिवणिक्य पाशुपाल्य कुसीदम्)

१३० बौधायन धर्मसूत्र, २१ ६-१० (शत क्षत्रियों ब्राह्मण कोशे, अध्यर्थ वैश्य ब्राह्मणाम्तु क्षत्रियों पचाशत, तद्‌अर्धम् वैश्य)

१३१ फिक, सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ-इस्ट इण्डिया, पृ० २५३ (ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए भी 'गहपति' शब्द को व्यवहृत बताया है)

१३२ सिह मदन मोहन, बुद्ध कालीन समाज एव धर्म, पृ० २२, (ब्राह्मणों एव क्षत्रियों से सम्बन्धित स्थलों पर 'ब्राह्मण गहपति' एव क्षत्रिय गहपति करके स्पष्ट कर दिया गया है एव वैश्य के अर्थ में मात्र 'गहपति' आता है।

- दि एज आफ विनय, पृ० १६७, २६०-६१,
- औल्डेन वर्ग, आन दि हिस्ट्री आफ दि इन्डियन कास्ट सिस्टम, (अनु एच सी चक्कलदार, इण्डियन एन्टिक्वेरी, जि० ४६, १६२०, पृ० २२८।

१३३ महावग्ग, ६.२८ ४, दीघ निकाय, १, पृ० ६७, २ पृ० १४६-४७। मज्झिम निकाय, १, पृ० १७६।

१३४ जातक, २, २६७।

१३५ जातक, २, ३८८।

१३६ जातक, १, १६६।

१३७ जातक १, ३४५, ३, २६६, ६, ४७५, ५, ३८४।

१३८ महावग्ग, ८ १.१६,

१३६ जातक, १, ३४६,

१४० दीघ निकाय, २, ३४२, जातक, ५, ४७१

१४१. अर्थशास्त्र, ३.७
(वैश्याध्ययन यजन दानं कृषि पाशु पाल्येवाणिज्या च)

१४२ मनुस्मृति, १.६०, पशूनां रक्षण दानमिज्याध्ययन मेव च वणिक्पथ कुसीद च वैश्यस्य कृषि मेव च।

१४३ बौधायन धर्मसूत्र, २.२.८० (गवार्थे ब्राह्मणार्थे वा वर्णाना वापि सकरो गृहणीयाता विप्रविशौ शस्त्रधर्म व्यपेक्षया)

१४४ गौतम धर्म सूत्र, ७.२६

१४५. मनुस्मृति, १०.६८; (वैश्योजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्यापि वर्तयेत अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान)

१४६ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.१.१-७, गौतम धर्म सूत्र, १०, ५४-५७

१४७ गौतम धर्मसूत्र, १०, ५७-५६ (परिचर्या चौन्तरेषाम)

१४८ गौतम धर्मसूत्र, १०, ६०

१४६ गौतम धर्मसूत्र, १०, ६० (शिल्प वृत्तिश्च)

१५० सेक्रेड बुक्स आफ दि इस्ट 13, २८, दीघनिकाय, १, ५१, जातक, ४, ४७५;

१५१ धम्मपद, ८०

१५२ जातक, ६, पृ० - १८६, ४३७.

१५३ दीघनिकाय, १, ७८ मज्झिम निकाय, २, १८,

१५४ मज्झिमनिकाय, २, १८, ४६, ३, ११८; जातक, २, ७६

१५५ उवासगदसाओ; ७, १८४

१५६. जातक, ३, २८१;

१५७ जातक, ३, २८१

१५८. जातक, ३, ४०५

१५६. शर्मा, आर.एस., शूद्रों का प्राचीन इतिहास, राजकमक, १६६२, पृ०-६२

१६० जातक, २, १६७, ३ ६१,

१६१ जातक, २ २४६,

१६२ जातक, १, ३७०, २, २६७, ३ १६८

१६३ जातक, १, २८४

१६४ जातक, १, २८३

१६५ जातक, ४, ३८६

१६६ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २, १०, २६ ४, (ग्रामेषु नगरेषु च आर्योछुचीन सत्यशीलान् प्रजागुप्तयें निदहयात्)

१६७ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २ १० २६ ५,

१६८ गौतम धर्मसूत्र, XXVII. 24, हरदत्त की टीका सहित, (द्रव्यादान विवाह सिद्धयर्थम, धर्मतत्र सयोगे च शूद्रात)

१६६ गौतम धर्मसूत्र, १० ६४, ६५

१७० शर्मा आर एस , शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० १००

१७१ मनुस्मृति, ११, १३ "आहरेत्रीणिवा द्वेवा काम शूद्रस्य वेश्मन । न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रह "।।

१७२ वशिष्ठ धर्मसूत्र, ४ ३

१७३ आपस्तम्बधर्मसूत्र, १.१ १ ६, अशूद्राणाम् अदुष्ट कर्मणामुपायनम् वेदाध्ययनग्न्याधेय फलवन्ति च कर्माण।
वशिष्ठ धर्मसूत्र, ४ ३

१७४ गौतम धर्म सूत्र- १२ ४ ६ , अथ हास्यवेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्या श्रोत्र प्रतिपूरण मुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीर भेद ।

१७५ वही,

१७६ वही,

१७७ शर्मा आर एस शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० ११४

१७८ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.६ २५ १३,
बौधायन धर्मसूत्र, १ १० १६ ६

१७६ गौतम धर्मस्य, १२, ११-१३, ब्राह्मणस्तु क्षत्रिये पचाशत् तदर्ध वैश्ये न शूद्रे किंचित्।

१८० शर्मा आर.एस. शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ०- १०४-८

१८१. अर्थशास्त्र, १ ३, शूद्रस्य द्विजाति शुश्रुषा वार्ता- "यहाँ 'वार्ता' शब्द का प्रयोग 'कृषि, पशुपालन एव व्यापार' के अर्थ में न होकर जीविका के अर्थ में हुआ है जयमगला जर्नल आफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, XXII

१८२. अर्थशास्त्र, १ ३

१८३. शर्मा, आर.एस. शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ०- १६६

१८४. अर्थशास्त्र, २ २४

१८५. अर्थशास्त्र, ५.३

१८६ शर्मा, आर एस. शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ १५६

१८७. अर्थशास्त्र, ६.२
(बहुल सार वा वैश्य शूद्र वलमिति)

१८८ अर्थशास्त्र, २.१, परदेशाय वाहनेन स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा)

१८६. अर्थशास्त्र, ६.१, अवर वर्ण प्राय .. .

१६० अर्थशास्त्र, ३.७ (टी. गणपति शास्त्री, २.४४ के अनुसार)

१६१ शर्मा, आर.एस. शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ०-१६६

१६२. अर्थशास्त्र, ६.४ विस्तृत विवेचन के लिए द्र, शर्मा, आर एस. प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृष्ठ-१०४

१६३. मनुस्मृति, १ ६१, ८.४१०, १०, १२३, तुलनीय ६ ३३४ १०, १२५.

१६४ मनुस्मृति, १०, १२६, (शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धन सचय शूद्रो हि धन मा साद्य ब्राह्मणानेव बाधते)
मनुस्मृति, ८, १७६, ८, ४१७; ११.१३
उपरोक्त प्राय सभी उद्धरणों में शूद्रों को आर्थिक दृष्टि से वंचित एव शोषित रखने का प्रयास दिखाई पडता है।

१६५ मनुस्मृति, १०, ६६ और १००' इन उपबन्धों से यह ज्ञात होता है कि मनु ने भी शूद्रों के लिए शिल्पवृत्ति अभिहित किया है। द्र० शर्मा, आर.एस. शूद्रों का प्राचीन इतिहास पृ०-१७८। उन्होंने कहा है कि इस काल में शिल्पियों की संख्या तो बढी ही उनकी परिस्थितियाँ भी बेहतर हुई।

१६६ अर्थशास्त्र ६ १ द्र -अर्थशास्त्र २,१, अन्यत्र से भी ले आकर बसाने को प्रमुखता दी गइ है।

१६७ मनुस्मृति ८.२२ "यद्राट्र शूद्र भूयिष्ठ नास्तिका क्रान्तमद्विजम् विनश्यत्यामु तत्कृत्स्न दुर्भिक्ष व्याधिपीडितम्"।

१६८ मनुस्मृति, ८ ४१८, ७, ६६, १०-५७-५८, इन दृष्टान्तों में सामान्य रूप से शूद्रों के प्रति वैरभाव का प्रकटीकरण हुआ है। वैश्य और शूद्र से अपने-अपने कर्तव्यों को करने या कराने के लिए बाध्य करना इस बात का सकेत हो सकता है कि वे अपने विहित कर्मों का अनुपालन शायद न करते हों।

१६६ ८.३४८, शस्त्र द्विजातिभिर्ग्राध्य धर्मो यत्रोप रूद्धयते। द्विजातीना च वर्णाना विप्लवे कालकारिते -

२०० जातक, १, २००, ग्राम भोजक (ग्राम मुखिया) की दासता का उल्लेख है, जातक, ६, ३८६, पर कुछ मंत्रीगण दासत्व की स्थिति तक पहुँचते हुए प्रतीत होते है, द्रष्टव्य- वद्योपध्याय 'स्लेवरी इन एन्शिएण्ट इण्डिया" कलकत्ता रिव्यू १६३० स ८ पृ०-२५४ ब्राम्हणों क्षत्रियों एव अन्य उच्च कुलोद्भृत लोगों को भी दासत्व ग्रहण किए हुए वर्णित किया गया है।

२०१ बोस, सोक्षक एण्ड रूरल इकानामी आफ नार्दन इण्डिया, २, ४२३ सोशल, पी वी काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र जि २ भाग-१, पृ० ३३, ३४।

२०२ दीघ निकाय, १, १०४,

२०३ शर्मा, आर एस , शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० ६४ पर उद्धृत।

२०४ शर्मा, आर एस , शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ० ६४

२०५ अर्थशास्त्र, ३ १३,
म्लेच्छानाम् दोष प्रजा विक्रेतुमाधातु वा। नत्वेवार्यस्य दासभाव ।

२०६ मनु स्मृति , ८, ४१३, शूद्र तु कारयेछास्य क्रीतमक्रीतमेव वा।
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्रास्मणस्य स्वय भुवा।।
८.४१४, न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास द्विमुच्येत
निसर्गज हि तत्तस्य कस्तत्स्मात्तरपोहति।

२०७ दीघ निकाय, १ ६४, मज्झिम निकाय, १ ४५२, जातक ४ ६६।

२०८ जातक, १,२००, ४,२२,६६, ६, २८५ द्र० Fick R , Social Organisation in N E India in Buddha's Time, 307

२०६ अर्थशास्त्र, ३ १३, आत्म विक्रयिण तेनोदरदासाहित कौ प्रक्षेपानुरूप श्रास्य दण्ड प्रणीत ध्वजाहृत .. गृहजात दायागत लब्ध दासी वा सगर्भाम्।

२१०. मनुस्मृति ८ ४१५, ध्वजाहृतों भक्तदासों गृहज क्रीतद्त्रिमौ पैतृको दण्ड दासस्च सप्तैते दासयोनय ।"

२११ जातक, १, ३५१ जातक, १, ४०२ (एक दासी मति .. विसिदायेत्वा रज्जुया पहारन्ति), मनु स्मृति, ८ २६६, मनुमहराज भी रज्जुप्रहार की व्यवस्था देते हैं, अगुत्तर निकाय, २, २०७-८ दण्ड के भय से दासों के मुख रुदन करते हुए दिखाए गए हैं।

२१२. जातक, १, ४५१, कटाहक दासपुत्र था, परन्तु स्वामि-पुत्रों के साथ अध्ययननोपरान्त उसे परिवार का भाण्डागारिक बना दिया गया, जातक, ३, १६७, इसमें दास स्वामी से अपने पुत्रवत सम्बन्धें की व्याख्या करता है।

२१३ मैकक्रिण्डक, एन्श्येण्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइण्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन, फ्रैगमेन्ट, २६, प्र०.६८

२१४ पाराजिक, १६६-१६७, विनय पिटक, ३, १३६ (१३६)

२१५ शर्मा, आर० एस, शूद्रो का प्राचीन इतिहास पृ० - १०२

२१६ दीघनिकाय, १ ६०-६१,

२१७ अर्थशास्त्र, ३.१३

२१८. गौतम धर्मसूत्र, २८ १, अर्थशास्त्र, ३.५, याज्ञवल्क्य, २ ११७ मनुस्मृति, ६.१०४ उर्ध्व पितृश्च मानुश्च समेत्य भ्रातर. समम्।
भजेरन्पैतृक रिक्यनिशास्ते हि जीवतो।।

२१६ दृष्टव्य, मिश्र, जयशकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ३८१

२२० वही

२२१. मिश्र, जी० एस० पी० दि एज आफ विनय, १८४

२२२ अर्थशास्त्र, पृ० १८४, द्र० मिश्र, जी० एस० जी० की पुस्तक, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था, पृ० १४५ पर उद्धृत।

२२३ मिश्र, जी० एस० पी० दि एज आफ विनय, १७२-७३

२२४ गौतम धर्मसूत्र, २८.१.३; आपस्तम्ब, २.१४,६; बौधायन, २ ३ १३,

२२५ आश्वलायन गृ० सू०, १ ६.१, आपस्तम्ब, २ ५ १५

२२६ गौतम धर्मसूत, २ ५०, आचार्य श्रेष्ठ गुणा मातेत्येके वशिष्ठ धर्मसूत्र, १३-४८

२२७ द्र०, मेहता रतिलाल, प्री बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० २६६, आई० बी० हार्नर, वीमेन अण्डर प्रिमिटिव बुद्धिज्म, पृ० -३

२२८ मिश्र, जी० एस० पी० प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्थ, पृ० १४७

२२९ ए० एस० अल्तेकर, दिपोजीशन आफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृ -१२-१३

२३० पाचित्तिय, पृ० २८३,

२३१ अवतेकर, पूर्व, २३६-३७, थेरी गाथा (स० ३२७) द्र०-मिश्रा जी० एस० पी० प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थ व्यवस्था, प्र० १४७ पर उद्घृत।

२३२ मनुस्मृति ६, ११८, 'स्वेभ्योडशेभ्यस्तु कन्याभ प्रदद्युर्भातर पृथक्
स्वात् स्वादशाच्वतुर्भाग पतिता स्युर रित सव।।

२३३ पाराजिक, पृ० २ ००-२०१ स्त्रियों की दस कोटियॉ निर्धारित की गई है एवं प्रत्येक में वह किसी न किसी के अधीन बताई गई है। यथा-मातुरक्खिता, पितृरक्खिता, मातुरक्खिता। ठीक इसी तरह की व्यवस्था आगे चलकर मनुमहाराज भी देते हैं। ६.२, ६ ३, पिता रक्षति कौमारे भर्तार सति यौवने रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वात्रयमर्हति।।

२३४ द्र०, जी० एस० पी० मिश्र, दि एज आफ विनय पृ०-१७५

२३५ मनुस्मृति, ५.१५०, "सदा प्रदृष्टया चामुक्तहस्तया"
याज्ञवल्क्य स्मृति, १ ८३, ८७
'सयतोपस्करा . भतृेतेत्परा"
'प्रतिप्रिय हिते चानुपम सुखम्'

२३६ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २.५ १२, धर्म प्रजा सम्पन्ने दारेनउन्या कुर्वीत।

२३७ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २.५.१२, धर्मप्रजासम्पन्ने दारेनडन्या कुर्वीत।
धर्मप्रजा सम्पन्ने दाखान्या कुर्वीत
अन्यतराभावे कार्या प्रागान्या धेयातृ
महावग्ग ८ १ १५, जातक २, १३८,

२३८ जातक, जि० २, स०-१५२ सिगालजातक
जातक जि०१, स० -४ चुल्लकसेट्ठि जातक

२३९ थेरी गाथा, ४४५

२४० गौतम धर्मसूत्र, १८.२२ (अप्रयच्छन्दोषी) परशर स्मृति ७.७-८ प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे

२४१. धर्मशास्त्रों में रजोदर्शन से पूर्व विवाह सर्वोत्तम बताया गया है। गौतम धर्मसूत्र १८.२१-२३ बौ० ध० सू० ४ १ १२.१४। यानि दूसरे शब्दों में बाल विवाह को समर्थन दिया गया। अर्थशास्त्र, ३ २ में भी स्त्री की उम्र बारह वर्ष विहित है। मनु ९ ९४, १२ और आठ वर्ष उम्र निर्धारित करते हैं।

२४२ आई० वी० हार्नर, वीमेन अण्डर प्रिमिटिव बुद्धिज्म, पृ०-९२-९३, लंदन १९२०
बौधायन धर्मसूत्र, ८.२ २६, विशिष्ठ धर्मसूत्र, १७ ६२,६४

२४३ मज्झिम निकाय, २, पृ०-१०९

२४४ अर्थशास्त्र, ३.३

२४५ नन्दजातक (३९), सुसीमजातक (१६३) विधवा विवाह की पुष्टि होती है, जातक, १, ३०७ से यह अभिज्ञात होता है कि स्त्री दूसरा पति प्राप्त कर सकती थी। वशिष्ठ धर्मसूत्र १७,७४ और अर्थशास्त्र ३ ४ के दृष्टान्तों से हिन्दू व्यवस्था में भी विधवा विवाह को पुष्ट किया जा सकता है। जो विधवा अपना विवाह कर लेती थी, उसे 'पुनर्भू' कहा गया है, द्र० विशिष्ठ धर्मसूत्र, १७ २०

२४६ मिश्र, जी० एस० पी० दि एज आफ विनय, पृ० १७८

२४७ मैक्रिडल पृ० ६९-७० दृष्टव्य, मिश्र जयशकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ४३९ पर उद्घृत

२४८ मैक्रिडल पृ० ६९-७० दृष्टव्य, मिश्र जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ४३९ पर उद्घृत

२४९ अष्टाध्यायी, ३.२ ३६

२५० महावग्ग ६.३०.२, ६ ३० ५;

२५१ महावग्ग ८.१ ३

२५२ महावग्ग, ८,१,४

२५३ जातक, ३, ६० नीच कर्म कहा गया है।
जातक, ३ ६१, ४, २४६
जातक, ६, २२८

२५४ मज्झिम निकाय, १, ५७, ३ ६०, अंगुत्तर निकाय, ५, २१३
जातक, १ ४२६, ४८४ २, ११०, ४, २७६, ६,३६७

२५५ आश्वनायन गृह्यसूत्र, १, १७,२, सा० गृ० सू०, १, २४, ३

२५६ अष्टाध्यायी, ५ २ २, ६ २ ३८

२५७ भोजाजानीय जातक, २३

२५८ अष्टाध्यायी, ४.४.१००, द्र० सिहमदन मोहन, बुद्धकालीन समाज एव धर्म पृ० ६६, पालि में 'भत्त' या 'भक्त' शब्द प्रयुक्त बताया गया है।

२५९ अष्टाध्यायी, ४,४ ६७,

२६० महावग्ग, ६, २४-२५

२६१ मिश्र जी० एस० पी०, दि एज आफ विनय, १८०, अग्रवाल, बी० एस०, 'इण्डिया एज नोन टुपाणिनि, १०५

२६२ सत्तुभस्त जातक, ४०२

२६३. सिंह० मदन मोहन, बुद्धकालीन समाज एव धर्म, पृ० ६७ द्र० मिश्र जी० एस० पी०, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्थ, पृ० १४६

२६४ अष्टाध्यायी, ६, २, १२८

२६५ विसवन्त जातक, ६६ द्रष्टव्य सिह मदन मोहन, बुद्धकालीन समाज और धर्म पृ० ६७

२६६ अष्टाध्यायी, ४ ३ १४

२६७. अगुत्तर निकाय, २, ६५ अष्टाध्यायी, २ ४ १४, ४.३.१६०

२६८ ओम प्रकाश, फूड एण्ड ड्रिंक्स इन ऐन्श्पेन्ट इण्डिया, पृ० ६२-६३

२६९. महावग्ग, ६.२३, १०-१५

२७० दीर्घनिकाय, २, १२६

२७१ मज्झिम निकाय, १, ३६४, २, १६३' द्र० मदन मोहन सिह, बुद्धकालीन समाज और धर्म पृ०-६८

२७२ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २ ३.७ ४

२७३. बौधायन गृहसूत्र, २.११.५१ ; आप स्तम्ब धर्मसूत्र, २, ७, १६, २६

२७४. आश्वलायन गृहसूत्र, १, २४, ३०-३३ वशिष्ठ धर्मसूत्र, ४ ८

२७५ पुण्णन्दि जातक, २१४ रोमक जातक, २७७, जातक, २, ४१२ .

२७६. जातक, २, २४२-४३, पारस्कर गृह्यसूत्र, १, १६,६ .

२७७. गोध जातक, १३८ , संखपाल जातक, ५२४

२७८. मनुस्मृति ३, २२७

२७९. स्ट्रैबों, १६.१.५६

२८०. सुरा और मैरेय मादक पेय के रूप में बहुवर्णित है। चुलवग्ग, १२.१.३; अगुत्तर निकाय, २, ५३-५४; पाणिनि, २,४,२५; ६,२,७० ।
मिश्र, जी० एस० पी०, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था पृ. १५१

२८१. सिह मदन मोहन, बुद्धकालीन समाज और धर्म, पृ० ७२

२८२. जातक, ४, ११४ ·

२८३ वारुणिजातक (४७) इलीस जातक (७८)

२८४ आश्वलायन गृह्यसूत्र, २.५.५ पारस्कर गृह्यसूत्र, ३, ३, ११

२८५. जातक, १,४८९ जातक १,३६३, ४८९ एक उत्सव का नाम ही सुरा नक्षत्र रख दिया गया था।

२८६. महावग्ग, ६.१४.१; औषधि के रूप में सुरा का सेवन बुरा नहीं माना जाता था।

२८७ आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १. ५. १७, २१ गौतम धर्मसूत्र, २, २६

२८८. जातक, ५, ४६७

२८९. मनुस्मृति, ११,९६ 'अमेध्ये वा पतेन्मत्तौ वैदिक वाप्युदाहरेत्।
आकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणों मदमोहित ।।

२६० चुल्लवग्ग, ५, २६, ४

२६१ जातक, ३, २६६, ५५७

२६२ चुल्लवग्ग, ५, २६, २, भिक्खुणी पातिमोक्ख, ४, ४०, ६६

२६३ द्र०-सिंह मदन मोहन, बुद्धकालीन समाज और धर्म पृ० ८८

२६४ महावग्ग, ८ ३.१ , दीर्घनिकाय २, ३५६-५७

२६५ महवग्ग, ५.१०, ५-७, ५०,१३,६ सिंह, हरिण, भेड आदि के पशुचर्म से बने वस्त्र प्रमुख रूप से प्रचलित थे।

२६६ चुल्लवग्ग ५ ११

२६७ चुल्लवग्ग ५ ११ १-२ जातक, ३ २८२

२६८ कनिघम, भरहुत प्लेट, २२, १५, ३, ४, २४, २१ साची और भरहुत की वेदिकाओं तथा तोरणों में उत्कीर्ण २४ प्रकार के उष्णीषों की सूची डा० मोती चन्द्र ने प्रस्तुत किया है द्र० प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृ० ६५-६८

२६९ महावग्ग, ५ २.४,

३०० महावग्ग, ५, १, २६ , दो तीन या चार तल्ले जूते बनते थे।

३०१ महावग्ग, ५ ७.१ .

३०२. महावग्ग, ५ ८.३

३०३ जी०एस०पी० मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था, पृ०-१५२

३०४ वहीं

३०५ वहीं

३०६ चुल्लवग्ग, ५.२ १, मज्झिम निकाय, ३.३४३, अगुत्तर निकाय ३ १६ जातक, १,१३४, २.१२२, ३.१५३ आचारांग सूत्र, २ २ १.११, अग्रवाल, इण्डिया एज नोन के पाणिनि, पृ० २३४

३०७ अंगुत्तर निकाय, ४.११६, जातक, १ ३५१, २ ६, ३.१५३, ४.४२२ पाणिनि, ५ ४ ३०, ५ २ ६८ कौटिल्य, २ ११,

३०८. जातक, १.१२६, २६०; ४.८२-८२, ६.३३६।

३०९ मज्झिम निकाय, ३.६-७ सयुत्त निकाय, ३ १५६।

३१०. द्र० पाराजिक, पृ० २० ।

३११ द्र० दि एज आफ विनय, जी०एस०पी० मिश्र, पृ० १८८-१८६ अपरच, द्र० आचागग सत्र जैन सूत्राज, भाग, १, पृ०-१२३-१२४ कल्प सूत्र, जैन सूत्राज, भाग-१, पृ० २४३।

३१२. दीघ निकाय, १ ५१,
मज्झिम निकाय, १.३८६-८७।

३१३. महावग्ग, १८, दीघनिकाय, २.१७.१८

३१४. साम्स आफ दि ब्रेडेन (थेरगाथा का राइज डेविड्स आर. अनुवाद), पृ० ३३०

३१५. महावग्ग, पृष्ठ १८
जातक, जि० ४, स० ४८५, पृ० १७६

३१६. द्र० जे०सी० जैन, पूर्वोक्त, पृ० २४०।

३१७ जातक, जि० ४, सं० ४५५, पृ० ५२।

३१८ चुल्लवग्ग, पृ० ३८८

३१९ अष्टाध्यायी, ४ २.५७, चुल्लवग्ग, पृ० २०
पाराजिक, पृ० २७०

३२०. द्र० जे०सी० जैन, पूर्वोक्त, पृ० २४०

३२१ जातक, ३ ४३४; जातक, ६, ३२६।

३२२ जातक, १, पृ० ५०८

३२३ जातक, १, पृ० ४६६

३२४ जातक १, पृ० ४३३

३२५. अष्टाध्यायी, ६.२.६४; २.२.६६, ३.३.१०६।
अपरंच, जातक, १, पृष्ठ- ५२

३२६ जातक, २ पृ० ४६-४६, ४, ६१, ५, २८६।

३२७ वैदिक इंडेक्स, जि० २, पृ० ४२६

३२८ वासुदेव शरण अग्रवाल, इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० ५७

३२९ अष्टाध्यायी, ४ ३ ११०।

३३० जे०सी० जैन, पूर्व, पृ० २४१, जी०एस०पी० मश्र, दिएज आफ विनय, पृ० २०२

३३१ द्र० जे० सी० जैन, लाइफ इन द ऐन्श्येण्ट इण्डिया एज डिपिक्टेड इन द जैन कैनन्स, पृ०२३६

३३२ वही, अपरच, चुल्लवग्ग, पृ० २३०, जे० सी० जैन पूर्वोक्त पृ० २३७

३३३ आर०वी० पाण्डेय, हिन्दू सस्काराज, पृ० १३३।
अपरच, ला आफ मनु, ३४-३५, पाचितिय, पृ० ११, पारस्कर गृह्यसूत्र, एस०बी०ई० जि० २९ भाग-१, पृ० २९७-९८

३३४ अष्टाध्यायी, ५ ४ ७३ अपरच, मनुस्मृति, ३ ९९-१०० चुल्लवग्ग, पृ० ६७, महावग्ग, पृ० २१, २४७
चुल्लवग्ग, पृ० १५५।

४

चतुर्थ अध्याय

अधीत कालीन आर्थिक संयोजन

(ई०पू० ६०० से ई०पू० २०० तक)

चतुर्थ अध्याय

"अधीत कालीन आर्थिक संयोजन"

(ई०पू० ६०० से ई०पू० २०० तक)

अधीतकालीन अर्थ संयोजन अपने द्रुतगामी लेकिन बुनियादी परिवर्तनों के लिहाज से तो विशिष्ट है ही उपयोगिता एव व्यापकता के मद्देनजर भी इसके निर्णायक दखल को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता। जहाँ एक ओर यह क्रान्तिकारी परिवर्तनों के साथ प्रयाँण करती है वहीं दूसरी ओर कुछ नए आयाम, कुछ नए प्रश्न भी प्रक्षिप्त करती है। कुछ तो इतिहास के स्वाभाविक विकासक्रम के तहत और बहुत कुछ मानवीय मेधा के अमन्द उन्नयन के फलस्वरूप विशिष्ट बन बैठी आलोच्य कालावधि की अनोखी अर्थ संरचना के उत्प्रेरक तत्व कई हैं, मसलन-लौह तकनीक का कृषि में अनुप्रयोग,[1] मध्य गंगाघाटी में शहरों का अभ्युदय एवं विकास, विविध हस्त शिल्पों का बड़े तफसील में सूक्ष्मतम विभाजन, व्यावसायिक संघों-श्रेणी संगठनों का विकास, मुद्रा अर्थ व्यवस्था, उद्योग धन्धे तथा व्यापार एवं वाणिज्य।

महान् मौर्यों का अभ्युद्य इस विशिष्ट कालावधि की अति विशिष्ट परिघटना थी। अर्थ व्यवस्था में एक नई चीज़ का अनुभव किया जाने लगा और वह थी राज्य नियंत्रित अर्थव्यवस्था और उसका सुचारू प्रशासनिक नियमन। विभिन्न आर्थिक गतिविधियों में राजकीय समर्थन से एक उछाल सा आया। अर्थार्जन की हर संभावना को तलाशा गया। लगभग सभी वस्तुओं पर कराधान राजस्व की वृद्धि में सहायक हुआ। खानाबदोश चारागाही अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान ग्रामीण अर्थव्यवस्था में रूपान्तरित हो चली थी। महज निर्वाह वाली अर्थव्यवस्था, अधिशेष ओर उपभोग की अर्थव्यवस्था हो गई। लौह तकनीक ने विविध शिल्पकारों की दक्षता एवं कार्य क्षमता दोनों को बढ़ावा दिया। शिल्पियों की तकनीकी दक्षता से किसानों की पैदावार को बढ़ावा मिला। इस अधिशेष ने उपभोक्ता वर्ग को स्थापित कर दिया। कारीगरों को उनकी दक्षता एवं कला का मूल्य मिलने लगा था और वह भी मुद्रा के रूप में। मुद्राओं के प्रचलन ने लेन-देन को काफी सुगम बना दिया जिससे व्यापारिक गतिविधियें को बहुत बढ़ावा मिला।

बड़े भू-भाग पर एक केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था से आवागमन सुगम हुआ होगा एव आन्तरिक तथा वाह्य व्यापारिक सिलसिले शुरू हुए होंगे।

नगरीकरण के लिए एक आधारभूत संरचना विकसित हो चुकी थी और प्रो० राम शरण शर्मा ने अपने वैदुष्य विवेचन में पुरातात्विक एवं साहित्यिक साक्ष्यों के तर्क पूर्ण समायोजन से आलोच्च कालावधि में नगरों के अस्तित्व को एक ऐतिहासिक तथ्य सिद्ध कर दिया है।[२]

आर्थिक क्षेत्र में हुए इन परिवर्तनों ने तत्कालीन सामाजिक संगठन को भी कुछ सर्वथा नई भंगिमाओं से लैस कर दिया[३]। समृद्धि एवं ऐश्वर्य का ग्राफ जहॉ उच्चतम बिन्दुओं को दर्शा रहा था वहीं निर्धनता एवं गरीबी भी उसी ग्राफ में निम्नतम बिन्दुओं को प्रदर्शित कर रही थी।[४]

अधीत कालीन अर्थ संयोजन को अध्ययन की सुविधा के लिहाज से एवं अवश्य ही बेहतर समझ एवं उसकी तर्क संगत व्याख्या के लिए भी मौर्य पूर्व यानि ६०० ई० पू० से ३२२ ई० पू० एवं मौर्ययुगीन यानि ३२२ ई० पू० से २०० ई० पू० के रूप में वर्गीकृत किया गया है।

इसके विभिन्न अवयवों की गहन गवेषणा एवं विस्तृत विवेचन के क्रम में सबसे पहले पड़ताल होगी कृषि एवं तत्सम्बन्धी विविध गतिविधियों की। आलोच्य कालावधि में लोगों की वहुसंख्या जीविकोपार्जन हेतु कृषि पर आश्रित थी। बौद्ध विनय में कृषि को उत्कृष्ट व्यवसायों में उत्कृष्टतम् माना गया है।[५] परन्तु यह उत्कृष्टतम व्यवसाय भी भूमि के बिना तो हो नहीं सकता था, अतः सबसे पहले तो भूमि स्वामित्व की प्रकृति पर विचार आवश्यक प्रतीत होता है कि आखिर भूमि किसके अधीन थी और उस पर स्वामित्व निर्धारण का मानक क्या था?

वस्तुतः यह विषय बड़ा विवादित है। कुछ विचारक राजा के स्वत्व को स्थापित करते हैं तो कुछ व्यक्ति के स्वत्व को महत्व देते प्रतीत होते हैं। वी० ए० स्मिथ[६] जे० एन० समद्दर[७] तथा व्यूलर[८] इत्यादि ने भू-स्वामित्व के प्रसंग पर विचार करते हुए भूमि पर राजा के स्वामित्व का अभिनिश्चयन किया है। परन्तु विद्वानों का एक बड़ा वर्ग[९] भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व की अवधारणा के साथ खड़ा प्रतीत होता है, जो अध्येय युग में भी भू-अवधारणा

की प्रचलित पद्धति प्रतीत होती है[१०] । पालिमहावग्ग का एक उद्‌धरण तो बड़े स्पष्ट शब्दों में अभिव्यंजित करता है कि भूमि भी पशु अथवा धन की तरह व्यक्तिगत सम्पत्ति है एवं इसका स्वामी कोई भी स्त्री अथवा पुरुष हो सकता है[११] विनय पिटक से यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य कालावधि में भूमि बेची या गिरवी रखी जा सकती थी।[१२] आम्रपाली ने अपनी वाटिका बौद्ध संघ को दान स्वरूप दे दिया था।[१३] गौतम ने भी स्पष्ट किया है कि कोई व्यक्ति किसी वस्तु का स्वामी क्रय-विक्रय, दाय स्वरूप प्राप्ति, बटवारा, अभिग्रहण इत्यादि के आधार पर होता है।[१४] राजकुमार जेत तथा राजगृह के श्रेष्ठी के मध्य उठा वह प्रसिद्ध विवाद जो जेतवन के क्रय-विक्रय को लेकर उत्पन्न हुआ था, प्रकारान्तर से भूमि पर व्यक्ति के स्वत्व की कानूनी मुहर प्रतीत होता है।[१५] उपरोक्त स्थितियों का अवलोकन इस तथ्य में संदेह की संभावना ही नहीं रहने देता कि बुद्धकालीन भारत या कहें मौर्य पूर्व उत्तरी भारत में भूमि पर व्यक्तिगत स्वत्व की अवधारणा एक आम हकीकत थी।

अब मौर्य युग में भू-स्वामित्व की संकल्पना की शल्य क्रिया के अन्तर्गत मेगस्थनीज के इस विवादस्पद कथन को कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया है कि राजा भूमि का स्वामी होता था,[१६] क्योंकि अन्य साक्ष्यों के आलोक में इतना भर ही अनुमित किया जा सका कि राजा भूमि का मालिक नहीं अपितु संरक्षक मात्र था[१७] और वार्षिक कर के रूप में उपज का एक निश्चित भाग प्राप्त करता था।[१८]

सच तो यह है कि मौर्य साम्राज्य इतना विस्तृत था कि भूमि पर मिल्कियत की कोई भी एक विधि सर्वत्र नहीं पाई जा सकती थी। फिर भी व्यक्तिगत स्वामित्व की अवधारणा बलवती एवं सुप्रचलित प्रतीत होती है। कौटिल्य ने भूमि की बिक्री से उत्पन्न विवादो के हवाले से भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व की अभिव्यंजना की है। एक व्यक्ति द्वारा खेत के स्वामी की अनुमति के बिना उस खेत विशेष से पशु लेकर जाने का उद्‌धरण आया है।[१९] सीमा निर्धारण को लेकर उपजे विवादों का अगर विवरण है[२०] तो जबरन किसी के खेत के अधिग्रहण पर दण्ड का भी विधान है।[२१] मनु महाराज भी खेत उसी का मानते हैं जिसने उसे खेती के योग्य बनाया।[२२]

एक अवलोकन इस बात का भी उचित या कहें प्रसंगोचित प्रतीत होता है[२३] कि कौटिल्य और मनु जैसे राजतंत्र के समर्थक ओर साम्राज्य वादी सिद्धान्तों के पोषक विचारक व्यक्ति के स्वत्व की बात कैसे करने लगे। जहा एक तरफ कौटिल्य ने[२४] राजा के भूमि पर स्वामित्व की उद्घोषणाएं की हैं तो मनु ने भी कोई कोर कसर नहीं छोड़ी है।[२५] परन्तु ये तथ्य कुछ विश्लेषण की मांग कर रहे हैं। कौटिल्य ने कहा है कि जो व्यक्ति खेती करने में अक्षम हो राजा को चाहिए कि उनके खेत जब्त कर लें।[२६] इसमें भी प्रथम अधिकार व्यक्ति के स्वत्व का ही अवबोधक है। यदि वह अक्षम है, तब राजा का अधिकार बनता है। अन्यत्र भी कौटिल्य ने राजा को स्वत्व तभी प्रदान किया है जब या तो वाद-विवाद के चलते या वंशजों के न होने की स्थिति में कोई जमीन परती रह जाने की संभावना रहती रही हो।[२७]

कौटिल्य की मंशा अधिकाधिक राजस्व की उगाही थी जिससे इतनी विशाल राजशाही निर्वाध चलती रहे। उसने भूमि पर व्यक्ति के स्वत्व को बढ़ावा दिया ताकि किसान अधिक उत्पादन के लिए उत्प्रेरित हों परन्तु किसी भी स्थिति में भूमि खाली न रहे इसलिए एक कृषि अधीक्षक के निरीक्षण में ऐसी भूमि पर भी खेती को बढ़ावा दिया जो राज्य द्वारा अधिग्रहीत की जाती थी। वस्तुतः यह अर्थ व्यवस्था में कृषि के महत्व का अभिद्योतन तो है ही, कृषि की अधिकतम संभावनाओं की खोज एवं उसके अधिकतम दोहन की सुचारू सुव्यवस्था भी है।

अब कृषि योग्य भूमि के वर्गीकरण की विवेचना वाजिब होगी क्योंकि जब कृषि की महत्ता इतनी अधिक बढ़ चुकी थी तो उसके वर्गीकरण एवं उसके प्रकारों पर भी ध्यान दिया जाता रहा होगा। पालिविनय के एक दृष्टान्त में 'जाता पथवी' और 'अजाता पथवी' यानि उपजाऊ और अनुपजाऊ भूमि के रूप में वर्गीकरण प्राप्त होता है।[२८]

एक सुत्त में खेत के तीन प्रकारों की चर्चा है-१. उत्कृष्ट, २. मध्यश्रेणी के ३. निम्नश्रेणी के, जो संभवतः जंगल या ऊसर रहा होगा। भिक्षुओं की तुलना उत्कृष्ट श्रेणी के खेत से, उपासकों की मध्यम श्रेणी से एवं अन्य धर्मानुयायियों की तुलना तीसरी श्रेणी यानि निम्नतम कोटि के खेत से की गई है।[२९] खेत सुत्त में[३०] आठ अच्छे प्रकार के खेतों का विवरण है तो आठ कम उपजाऊ श्रेणियां भी वर्णित है।[३१] वह भूमि जो पत्थरीली रेतीली न हो तथा जिसमें सिंचाई सुलभ हो, वह अच्छी एवं उपजाऊ भूमि मानी जाती थी।[३२] एवं इसके

विपरीत भूमि अनुपजाऊ मानी जाती रही होगी। खेतों के आकार प्रकार सुविधानुसार निर्धारित किए जाते रहे होंगे। उन पर मेड़ बांधी जाती थी। इससे जहां सीमांकन आसान हो जाता रहा होगा वही सिंचाई की सुविधा भी बढ़ जाती रही होगी। उपरोक्त तथ्यों के मद्देनजर यह अनुमानित होता है कि कृषि योग्य भूमि छोटे-छोटे खेतों में बंटी रहती होगी क्योंकि सुविधा इस तरह इस समय भी है और उस समय भी रही होगी।[३३] हा, फसलों के आधार पर खेतों की पहचान की परम्परा दृष्टिगोचर होती है कयोंकि विनय में[३४] 'यवखेत्त', (जिस खेत में यव बोया गया हो) एवं 'सालिखेत्त' (जिसमें सालि बोया गया हो) का उल्लेख तो आता ही है पाणिनि[३५] ने भी व्रैस्य (एक तरह का चावल 'ब्रीहि' जिसमे बोया गया हो) शालेय, (शालि का खेत) यव्य इत्यादि का जिक्र किया है।

अब आलोच्य कालावधि में कृषि के स्वरूप उसकी प्रक्रिया, प्रविधि एवं उपकरणों का लेखा जोखा उपादेय ही नहीं अपितु आवश्यक भी प्रतीत होता है। ताकि यह पता चले कि कैसे प्राविधिक शक्तियों के विकास ने कृषि के स्वरूप को प्रभावित किया, उत्पादन बढ़ा कर अधिशेष एवं उपभोग की अर्थव्यवस्था का सूत्रपात किया।

अपने पूर्ववर्ती काल की तुलना में बुद्ध का काल यानि मौर्य पूर्व काल कृषि क्षेत्र में अभूतपूर्व वृद्धि का काल है। चुल्लवग्ग के हवाले से प्रो० जी० एस० पी० मिश्र[३६] कृषि प्रक्रिया के सिलसिले वार व्यौरा का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। पाणिनी ने भी कृषि कार्यों का काफी तफसील में जाकर विवरण प्रस्तुत किया है।[३७] गृह्य सूत्रों में कृषि तथा पशुपालन की वृद्धि, सुरक्षा तथा संरक्षा के निमित्त कई यज्ञों के प्रतिपादन का विधान दिया गया है।[३८]

सर्वप्रथम खेतों की जुताई का विवरण आता है। पाणिनी खेतों के दो या तीन बार जोते जाने की बात कहते है और इस कार्य के लिए 'हल' को व्यवहृत बताते हैं[३९]। हल के लिए 'लांगल' शब्द का प्रयोग हम वैदिक काल में देख-जान चुके हैं।[४०] और पालि बौद्ध ग्रन्थों में हल के लिए 'नंगल' शब्द का प्रयोग[४१] शायद वैदिक 'लांगल' की ही अनुगुंज हो। पाणिनि ने हल के लिए 'हल' शब्द के अतिरिक्त 'सीर' का भी प्रयोग किया है[४२]। हल की फाल निश्चित ही लोहे की बनी रहती होगी।[४३] लोहे के हल के फाल के विकल्प के तौर पर 'कुद्याल' अथवा फावड़ा भी प्रयुक्त होता रहा होगा।[४४] इन उदाहरणों से यह निष्कर्षित होता है

कि तत्कालीन परिस्थितियों में जुताई के प्रति विशेष सावधानी बरती जाती थी और जैसा कि डॉ० वी० एस० अग्रवाल ने पाणिनी मेगस्थनीज और कौटिल्य का हवाला देते हुए स्थापित भी किया है कि जुताई तीन बार, सात बार या इससे भी अधिक बार की जाती थी।[४५]

हल खीचने के लिए बैलों का जोड़ा उपयोग में लाया जाता था[४६]। आज भी कृषि-प्रौद्योगिकी की इतनी प्रगति के बावजूद व्यापक रूप से बैलों द्वारा ही जुताई होती है और तब तो कृषि कार्यों में पशुओं का उपयोग अपने आप में उच्च्य तकनीक का प्रवर्तन था। खेत जोतने के क्रम में हल के द्वारा धरती पर पड़ी लकीरों 'हराई' के लिए 'सीता' शब्द का व्यवहार होता था।[४७]

अच्छी तरह से जुताई के बाद तैयार खेत में बीज-बपन होता था। विनय की टीका करते हुए बुद्धघोष ने 'उदकवप्प' तथा 'थूलवप्प' नामक बोवाई की दो विधियाँ भी बताई है।[४८] प्रथम प्रकार जलमग्न खेत में बोआई से तो दूसरा सूखे खेत में बोआई से सम्बद्ध प्रतीत होता है। बोवाई के काम में स्त्रियों की भी भागीदारी होती थी[४९] जो सम्भवतः निम्न वर्णों की ही होती रही होगी जिनके पतियों को भी कृषि कार्य मे नियोजित किया गया रहा होगा[५०] बीजों की भी कम से कम पांच कोटियां निर्धारित पाते हैं,[५१] 'मूल बीज', जड़ का बीज के रूप में प्रयोग, 'खंधवीज' या 'स्कन्ध' बीज जिसमें तना बोया जाता था, 'फलबीज' जिसमें जोड़ों को बोया जाता था, 'बीज वीज' जिसमें बीज का ही बपन होता था।

आलोच्य कालावधि में कृषि के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण विकास था धान रोपने की पद्धति का प्रवर्तन।[५२] प्रारम्भिक पालिग्रन्थों के आधार पर धान की रोपाई को ई० पू० ५०० के आस-पास प्रचलित हुआ माना जा सकता है, क्योंकि धान की रोपाई से सम्बद्ध कई शब्द तत्कालीन पालि ग्रन्थों में खोजे जा सकते हैं।[५३] एक और पालि शब्द 'बीजनि पतिट्ठापेत्ति' स्पष्टतः पौधों की रोपाई अभिव्यंजित करता है।[५४]

वैदिक शब्द 'व्रीहि' और वैदिकोत्तर शब्द 'शालि' के मध्य अन्तर को स्पष्ट करते हुए[५५] यह स्थापना उचित ही प्रतीत होती है कि 'व्रीहि' बिना रोपाई के तथा 'शालि' को रोपवाँ पद्धति से उगाया जाता था।[५६] इस तथ्य में सन्देह तो नहीं ही प्रतीत होता कि आलोच्य कालावधि में रोपाई की विधि सुप्रचलित थी। केले की रोपाई के भी साक्ष्य मिलते हैं।[५७]

श्वेतांवर जैन ग्रन्थ 'नायाधम्म कहाओं'[५८] में धान की रोपाई को प्रदर्शित करने वाला वाक्याश 'उक्खायणिहये' जिसका शाब्दिक अर्थ है 'उखाड़ना और रोपना' के आधार पर प्रो० शर्मा[५९] रोपवॉ पद्धति के प्रचलन में एक और मजबूत तर्क पेश करते हैं। चूॅकि रोपवॉ पद्धति से उपज में गुणात्मक वृद्धि होती है अत· इस विधि के प्रवर्तन को काफी महत्व दिया गया।

कृषि उत्पादों में धान के अतिरिक्त हम जौ को एक प्रमुख फसल के रूप में चर्चित पाते हैं।[६०] बाजरा, चना, मटर, मूॅग, उर्द, शालि, व्रीहि, तण्डुल, ईख, नारियल इत्यादि भी उपजाया जाता था[६१]। आम, सेब, जम्बूफल, अंजीर, अगूर, केला, खजूर जैसे कई फल उगाए जाते थे।[६२] मिर्च, अदरक, राई, लहसुन, जीरा इत्यादि की भी खेती प्रचलित थी।[६३] हॉ गोधूम अथवा गेहूॅ इस समय तक कृषि उत्पादों में कोई महत्वपूर्ण स्थान रखता नहीं प्रतीत होता।[६४]

फसलों के पक जाने पर उसे 'असिएहि'[६५] से काटकर 'खलमण्डल'[६६] यानि खलिहान में लाते थे एवं तत्पश्चात् 'सुप्पकत्तर'[६७] से साफ करते थे।

तिल का प्रयोग कई कामों में होता था। खाद्य व्यंजन बनाने एवं तिल का तेल निकालने में[६८] तो जौ और चावल के साथ धार्मिक कार्यों में तिल का उपयोग[६९] उसे एक महत्वपूर्ण फसल बना देता है।

प्रो० जी० एस० पी० मिश्र तत्कालीन जन जीवन में सरसों एवं एरण्ड के तेलों का प्रयोग भी स्वीकार करते हैं एवं दीपक जलाने तथा भित्ति चित्रों के निर्माण में उसे उपयोगी भी बताते हैं।[७०]

चूँकि भारत के वस्त्र उद्योग की अपनी ख्याति रही है अतः तत्सम्बन्धी उत्पादन भी अवश्य होता रहा होगा जैसे कपास के अलावे 'खोम' जिसे अलसी भी कहा जाता था, साण (सान) एवं भंग (भांग) इत्यादि रूई प्रदान करने वाले अन्य पौधे भी थे जिनसे वस्त्रों के निर्माण में सहायता मिलती थी।[७१] प्रो० मिश्रा स्पष्ट करते हैं कि पालि विनय में 'रूक्खतूल' का उल्लेख सेमल के वृक्ष से प्राप्त कपास से सन्दर्भित है।[७२]

इस काल की एक और विशिष्टता नये पौधों एवं फलदायी वृक्षों के उपयोग में उभर कर सामने आती है। जंबु,[७३] मधूक[७४] तथा पलाश[७५] का ज्ञान आर्थिक रूप से उपयोगी सिद्ध हुआ होगा।

मौर्य युग यानि आलोच्य कालावधि के द्वितीय उपभाग (३२२ ई०पू० से २०० ई०पू०) को कृषि की अभूतपूर्व उन्नति एव तकनीकी निवेश के लिए जाना जाता है। राज्य के द्वारा कृषि के प्रति प्रदर्शित उत्सुकता इसके विकास का सर्वप्रमुख कारण बनी। कौटिल्य परती भूमि[७६] और बन[७७] को भी खेती के लायक बनाने की सम्भावनाओं को टटोलते हैं उपज की बढ़ोत्तरी के लिए विविध किस्मों की खादों के प्रयोग पर भी बल देते हैं।[७८] कौटिल्य तीन तरह की फसलों का व्यौरा देते हैं,[७९] पहली कोटि की फसलें शालि, ब्रीहि, कोदों, तिल, कक्कुनी, दारद, वरक इत्यादि वर्षा के प्रारम्भ काल में दूसरी कोटि की फसलें मूँग, उड़द और शिम्ब वर्षा के मध्य में, तथा तीसरी कोटि की फसलें कुशुम्भ, मसूर, कुलथी, जौ, गेहूँ, मटर, अलसी और सरसों वर्षा के अन्त में। बीजों के यथा समय बोए जाने पर कौटिल्य ने विशेष ध्यान दिया तथा कृषि कार्यों के निमित्त नियुक्त पदाधिकारी 'सीताध्यक्ष' से इसे सुनिश्चित करने को कहा जाता था।[८०] आजकल गाँवों में खेती की समय सारिणी को लेकर एक कहावत प्रसिद्ध है कि 'आगिल खेती आगे-आगे, पाछिल खेती पाछे-पाछे इस तरह की समयबद्धता कृषि कार्यों में उस समय भी बरती जाती थी। तात्पर्य यह कि मौर्य युग कृषि के विस्तारीकरण का युग तो था ही, उसकी सम्भावनाओं की पहचान और उसके असीमित दोहन का काल भी था। कृषि अर्थव्यवस्था के लाभ पहली बार इतने स्पष्ट रूपों में सतह पर आते हैं।

मनु ने भी कृषि पर यथेष्ट ध्यान दिया है तथा इसकी विभिन्न प्रक्रियाओं का वर्णन करते हुए प्रमुख उत्पादों का विवरण भी दिया है।[८१]

सिंचाई की व्यवस्था कृषि से सम्बन्धित सबसे महत्वपूर्ण विषय है, क्योंकि शेष बातों का कोई मतलब नहीं रह जाता जब तक सिंचाई की उत्तम व्यवस्था नहीं हो। आलोच्य कालावधि में लोग न सिर्फ इसके महत्व से परिचित थे अपितु इसकी बेहतरी के लिए उद्यम भी करते थे। गौतम बुद्ध के समय में नहरों और नालियों के निर्माण की जानकारी मिलती

है।[८२] इच्छित जगहों पर सिंचाई के लिए कई योजनाएँ बनायी गई एवं उनका सफल क्रियान्वयन भी हुआ।[८३] जातकों में नहरों एवं तालाब निर्माण की चर्चा है।[८४] अष्टाध्यायी से भी यह पता चलता है कि लोग सिंचाई के लिए प्राकृतिक वर्षा पर ही निर्भर नहीं थे अपितु स्वय के उद्योगों से कुएँ एवं नहरें बनाकर सिंचाई की सुविधा बहाल करते थे।[८५] धर्म सूत्रों में राजा और प्रजा दोनों से तालाब तथा कुएँ बनवाए जाने की अपेक्षा की गई है।[८६]

जैन ग्रन्थ वृहत्कल्प भाष्य के विवरण के आधार पर ऐसा अनुमित होता है कि स्थान विशेष की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप सिचाई की व्यवस्था बदलती रहती थी, जैसे लाट देश में वर्षा के जल से, सिन्धु देश में नदियों के द्वारा, द्रविण देश में तालाबों के द्वारा उत्तरापथ में कुओं से तो डिम्भर लेक प्रदेश में बाढ़ के पानी से सिंचाई की व्यवस्था बहाल रखी जाती थी।[८७]

कुंओं से पानी निकालने के लिए विशेष प्रत्यन करने पड़ते थे। 'तुल', 'करकटक' तथा 'चक्कवट्टक' की सहायता से पानी निकाला जाता था।[८८] आधुनिक सन्दर्भों में इन्हें क्रमशः 'ढेंकुल', 'पुर' तथा 'रहट' के द्वारा बेहतर समझा जा सकता है।

मौर्य युग में खेती के विकास में जो सर्व प्रधान कारक सिद्ध हुआ वह था राज्य द्वारा सिंाई सुविधाओं का सुचारू प्रबन्धन एवं किसानों के हित में निर्वाध जलापूर्ति का नियमन[८९]। अर्थशास्त्र में अच्छा प्रशासन उसे बताया गया है जिसके अन्तर्गत किसान को फसलों की सिंचाई के लिए सिर्फ प्राकृतिक जलापूर्ति यानि वर्षा पर आश्रित न रहना पड़े[९०]। कौटिल्य ने सिंचाई की सुचारू सुव्यवस्था हेतु जहाँ संसाधनों के समुचित संयोजन पर बल दिया है,[९१] वहीं कई तरह की सावधानियाँ भी बताई है जिन पर अमल किया जाना चाहिए।[९२] परन्तु यदि कुछ अवाछित-असामाजिक तत्वों द्वारा सिंचाई सुविधाओं को नष्ट-भ्रष्ट किया जाता है तो उसे पर्याप्त दण्ड की भी व्यवस्था, अर्थशास्त्र में पायी जाती है,[९३] जैसे तालाब को क्षति पहुँचाने के आरोप प्रमाणित हो जाने पर दोषी व्यक्ति को तालाब में डुबो देने का विधान किया गया।[९४] सिंचाई हेतु सरकारी प्रयासों की अभिलेखिक पुष्टि भी हो जाती है जब रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख के द्वारा यह तथ्य सामने आता है कि मौर्य शासकों द्वारा या कहें चन्द्रगुप्त और अशोक के राजत्वकाल में उनके प्रान्तीय प्रशासकों द्वारा सुदर्शन झील का

निर्माण एवं मरम्मत कराया गया था एवं एतद् द्वारा सिंचाई व्यवस्था को दुरूस्त किया गया था।[९५] मौर्य काल में सिचाई की नालियों की देखरेख निर्माण एवं मरम्मती के लिए एक सरकारी कर्मचारी ही नियुक्त होता था।[९६]

मनु ने भी सिंचाई की व्यवस्था बाधित करने वाले को समुचित दण्ड का भागी बताया है और राजा से इसके क्रियान्वयन को सुनिश्चित करने की उम्मीद भी की है।[९७]

सिंचाई की इतनी उत्तम व्यवस्था के बाद भी आलोच्य कालावधि में अकाल जैसी स्थितियॉ उत्पन्न हो जाती थी। महावग्ग में एक अकाल का जिक्र आता है जिसमें लोग मांस भक्षण को बाध्य हुए थे तथा स्वाभाविक ही जब अन्न भण्डार बचा ही नहीं था तो भिक्षुओं को भिक्षा स्वरूप भी यही सब कुछ मिलता रहा होगा।[९८] अकाल की परिस्थिति में जनता कुछ चुने हुए भिक्षुओं को ही भोजन उपलब्ध करा पाती थी।[९९] वैशाली में सूखा और महामारी के बचाव के निमित्त लोगों को प्रार्थनाएं करनी पड़ी थी।[१००]

डायोडोरस की संकल्पना को स्वीकार करें तो भारतीय भूमि की उर्वरा शक्ति इतनी प्रचण्ड थी और सिंचाई की कृत्रिम व्यवस्था इतनी सुव्यवस्थित थी कि पर्याप्त अन्नोत्पादन होता था।[१०१] फलतः अन्न की कमी के कारण बड़े पैमाने पर लोग नहीं मरते होंगे। शायद इन्हीं परिस्थितियों से प्रभावित होकर मेगस्थनीज ने भी कहा है कि भारत में अकाल नहीं पड़ते।[१०२] जैन कथाओं में चन्द्रगुप्त मोर्य के राज्यकाल में अकाल का जिक्र आया है।[१०३] सौहगौरा और महास्थान के अभिलेख भी अकालग्रस्त गंगाघाटी में जन सहायता का जिक्र करते हैं।[१०४]

लेकिन यह भी सत्य है कि फसलों का विनाश कई कारणों से हो जाता था, मसलन, चिड़ियों, चोरों, पशुओं एवं कीड़ो-मकोड़ों के द्वारा,[१०५] अनाजों की विभिन्न बीमारियों के द्वारा[१०६], तो कभी-कभी प्राकृतिक प्रकोपों के द्वारा जैसे ओलों के गिरने से,[१०७] कभी-कभी अति वृष्टि तो कभी अनावृष्टि[१०८] के द्वारा।

दुर्भिक्ष की स्थितियों से निपटने के लिए, राजा के कर्तव्य के रूप में, कृषि के विकास को, परिगणित किया गया है।[१०९] कौटिल्य ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि दुर्भिक्ष के प्रकोप

को कम करने के लिए राजा को किसानों का भू-राजस्व माफ कर देना चाहिए।[११०] यदि राजा कोई सहायता करने में अक्षम है तो प्रजा सामूहिक रूप से पर राज्य गमन कर सकती थी।[१११]

वैसे यह स्पष्ट करना युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि उस समय अकाल जैसी स्थिति प्रायः कम ही आती थी और आती भी थी तो उसका प्रकोप आजकल की बनिस्वत कम ही होता था।[११२]

इसका एक प्रमुख कारण वनों एव वृक्षों के प्रति लोगों का लगाव एवं उनका संरक्षण भी था। बुद्ध[११३] और महावीर[११४] ने इनकी रक्षा के लिए जन मानस को तैयार किया तो अर्थशास्त्र[११५] में भी वृक्षों को क्षति न पहुँचाने का आदेश पाया जाता है। अब यह पर्यावरणीय प्रेम था या उनकी उपयोगिता या आर्थिक उपादेयता यह तो निश्चिततः नहीं कहा जा सकता परन्तु वृक्षों को क्षति न पहुंचाने सम्बन्धी विवरण निश्चित बहुशः उपलब्ध है। यह भी बड़ा रोचक संयोग है कि बुद्ध ने जिन नगरों की यात्रा की उनमें प्रत्येक में एक बन पाया जाता है।[११६] प्रारम्भिक बौद्ध धर्म से सम्बन्धित अनेक नगरों के नाम भी कुछ पौधों एवं वनस्पतियों के नाम पर ही रखे गए प्रतीत होते हैं।[११७]

अशोक ने अपनी राजाज्ञा में ही जंगलों की सुरक्षा सुनिश्चित करने का प्रयास किया था।[११८] अर्थशास्त्र में जंगलों को आग लगाने वाले को आग में ही जला देने का विधान है।[११९]

अर्थशास्त्र में जंगलों को आर्थिक एवं सैन्य उपादेयता के आधार पर वर्गीकृत किया गया है, जिसकी तीन श्रेणियाँ है। (१) शिकार के जंगल-पशुचर्म, हड्डी, नख, दन्त, सींग इत्यादि के लिए (२) वन्य वस्तुओं के जंगल-लकड़ी से गाड़ियाँ रथ बनते थे, किलों की दृष्टि से भी उपयोगी (३) हाथियों के जंगल-जहां से हाथी लाए जाते थे, युद्धों में उपयोगी होते थे।[१२०] कौटिल्य आगे भी वनो की उपादेयता बताते हुए यह कहते हैं कि नदी युक्त वन राजा की विषम परिस्थितियों में शत्रुओ से रक्षा के लिए उपयोगी होता है।[१२१]

मनु के काल तक वनों के सरक्षण पर जोर दिया जाता रहा जैसा कि मनु की इस स्थापना से अभिद्योतित होता है कि हरे पेड़ काटने वाले को जाति से निष्काषित कर दिया जाय।[१२२]

आलोच्य कालावधि की अर्थव्यवस्था के अन्य महत्वपूर्ण अवयव पशुपालन का विश्लेषण भी समीचीन प्रतीत हो रहा है, क्योंकि कृषि के विकास और प्रसरण के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि पशुपालन तत्कालीन अर्थव्यवस्था की पृष्ठभूमि में धकेल दिया गया था, बल्कि इस पर और ध्यान दिया जाने लगा क्योंकि कृषि कार्य में पशुओं की उपयोगिता असंदिग्ध थी। वैदिक धर्म में प्रचलित पशुबलि की प्रथा के विरोध में बौद्धों का अहिंसा सिद्धान्त और पशुओं का सरक्षण सिद्धान्त तत्कालीन कृषि अर्थव्यवस्था के अनुरूप ही विकसित हुआ था।[१२३] तत्कालीन जनजीवन में विविध पशु-पक्षियों का महत्वपूर्ण स्थान था एव उनके बारे में काफी विस्तृत जानकारी थी, ऐसा प्रतीत होता है।[१२४]

पशुपालन को कृषि एवं वाणिज्य के साथ उत्कृष्ट व्यवसाय के रूप में प्रतिष्ठा हासिल थी।[१२५] पालतू पशुओं में गाय को सर्वाधिक महत्व दिया जाता था। क्योंकि खाद्य पदार्थ के रूप में दूध का महत्वपूर्ण स्थान तो था ही, इसकी संततियॉ बैलो के रूप में कृषि कार्य की आधार शिला थी।[१२६] इनका मांस भी विशिष्ट अतिथियों को खिलाया जाता था।[१२७] उस दृष्टिकोण से भी इनका महत्व था।

कौटिल्य[१२८] एवं मनु[१२९] दोनों की व्यवस्था में पशुपालन को उतना ही महत्व दिया गया है जितना कृषि का, अधिक पशुओं को जंगल में बाड़ा बनाकर[१३०] तो कभी-कभी पहाड़ियों से घिरे स्थानों में भी रखा जाता था।[१३१]

पालि विनय में उत्तरापथ से घोड़ों के व्यापार के बारे में जानकारी मिलती है।[१३२] घोड़ों के साथ साथ हाथी भी सैन्यबल का महत्वपूर्ण हिस्सा था,[१३३] और कौटिल्य ने इस पर विशेष ध्यान रखा था।[१३४] यूनानी लेखको के विवरण भी पशुओं के बारे में जानकारी, उनकी विविध उपयोगी गतिविधियों एव भारतीय जन जीवन से उनकी बहुविध सम्पृक्ति को पुष्ट करते है।[१३५]

वस्तुतः बौद्धों की शिक्षाओं के फलस्वरूप पशुपालन के प्रति लोगों का दृष्टिकोंण बदला। वस्तुतः ब्राह्मण विचारधारा में धर्म के कृत्य-कर्मकाण्ड में पशुबलि की प्रथा तथा जन जातियों में आखेटक वृति दोनों ही कृषि के लिए पशुसरंक्षण में विपरीत बैठती थी। जबकि प्रारम्भिक पालि ग्रन्थों में बलि विरोधी माहौल बनाने का प्रयास किया गया है। सुत्तनिपात में

पशुबलि के बुरे परिणामों को रेखांकित करते हुए यह स्थापित किया गया है कि पशु लोगों को भोजन सौन्दर्य और प्रसन्नता प्रदान करते हैं अत· उनका सरक्षण जरूरी है।[१३६]

प्रो० शर्मा पशुधन के संरक्षण सम्बन्धी इसी तरह के दृष्टिकोण को 'अवेस्ता' द्वारा भी स्वीकृत किये जाने को लोहे के फाल पर आधारित कृषि के प्रारम्भ से जोड़कर देखते हुए बौद्ध विचारधारा के साथ बड़ी रोचक तुलना करते है।[१३७]

अब राजस्व व्यवस्था विशेष कर भू-राजस्व को विश्लेषण के लिए चुना गया है ताकि तत्कालीन राज्य व्यवस्था कैसे सुचारु रूप से संचालित होती थी इसकी कुछ जानकारी हो सके। राजस्व वसूली उसका निर्धारण उसके स्वरूप एवं विस्तार के बारे में भी एक अनुमान बड़ा रोचक होगा क्योंकि अब वैदिक युगीन सरल अर्थतंत्र नहीं रह गया था। लूट की सम्पत्ति पर आधारित अर्थव्यवस्था नहीं रह गई थी। अब अधिशेष और उपभोग की कृषि आधारित अर्थव्यवस्था थी जिसमें 'उपहार' नहीं 'कर' लिया जाने लगा था। परिजनो के द्वारा नहीं विधिवत नियुक्त अधिकारियों द्वारा राजस्व वसूली होती थी। अब जनजातीय समाज नहीं रह गया था, व्यावसायिक समाज हो गया था।

प्राक्मौर्य काल में राजस्व व्यवस्था के सन्दर्भ में धर्मसूत्रों के विवरणों के आधार पर यह निष्कर्ष लगभग सर्व स्वीकृत जान पड़ता है कि प्रजा की रक्षा के निमित्त राजा उनकी आय के छठे भाग का अधिकारी है[१३८] परन्तु सिर्फ वैध करों की वसूली ही कर सकता था।[१३९] गौतम भू राजस्व की तीन दरें विहित करते हैं अर्थात् अन्न का १/६ भाग, १/८ तथा १/१० भाग।[१४०]

पाणिनि के काल में भू-राजस्व उपज का १/६ से लेकर १/१२ वे हिस्से तक कुछ भी हो सकती थी, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आपातकालीन स्थितियों में लोगों को नकदी के रूप में भी कुछ धनराशि देनी पड़ती थी।[१४१]

प्राक्मौर्य काल की भू-राजस्व व्यवस्था की एक सुसंगत व्याख्या के लिए बौद्ध एवं जैन साहित्य के साक्ष्यों का उल्लेख आवश्यक ही नहीं, उचित भी है। पालि बौद्ध साहित्य में 'बलि' तथा 'भाग' शब्द आते हैं जो उपज के एक हिस्से को अभिव्यक्त करते हैं।[१४२] दीघ निकाय का एक विवरण जन सामान्य में बैठी इस धारणा को विवृत करता है कि राजा को

उपज का एक हिस्सा मिलना चाहिए।[१४३] धर्मसूत्रों में वर्णित मान्यता की यह एक एकदम फोटोस्टेट मान्यता है। वस्तुतः इस बात की सम्भावना अधिक प्रतीत हो रही है, कि भूमि कर की कोई एक निश्चित दर नहीं थी और आम तौर से भूमि के वर्गीकरण एव मूल्यांकन के बाद ही कोई कर निर्धारित किया जाता रहा होगा।[१४४]

इन तमाम विश्लेषणों के आधार पर प्रो० शर्मा ने प्राक्मौर्य की भू-व्यवस्था की दो विशिष्टताओं को इंगित किया है- १. राजा और भूमि जोतने वालों के मध्य विचौलियों का कोई संगठित वर्ग नहीं था एवं २. आदिम काल से चली आ रही सामुदायिक तथा अपृथक्कारी भावना जिसके चलते भूमि की बिक्री, उपहार या बंधक रूप में उसका हस्तांतरण नहीं हो पाता था।[१४५]

मौर्य युगीन भूव्यवस्था में कराधान की बड़ी सुनियोजित पद्धति के दर्शन होते हैं। अर्थशास्त्र से यह अभिज्ञात होता है कि गोप नामक अधिकारी गाँवों की समस्त भूमि का लेखा जोखा रखता था। कितनी बेगार करानी है, किस पर कितना जुर्माना लगेगा, कितना धन नकद लेना है, किस पर कितना कराधान होगा, नहीं होगा, इन सबका ब्यौरा रखता था।[१४६] उसके बाद समाहर्ता गाँवों में निरीक्षकों के द्वारा एक बार फिर 'सर्वे' कराता था। एवं उसके आधार पर काारोपण या कर मुक्ति निश्चित होती थी।[१४७] इसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति की क्षमतानुसार कर विधान किया जाता था। परन्तु उतने बड़े साम्राज्य में इतने सूक्ष्मतम स्तरों तक जाकर निरीक्षण दुष्कर भी रहा होगा। शायद यही कारण है कि कुछ गाँवों पर ही सामूहिक रूप से कराधान की व्यवस्था देखने में आती है जिसे कौटिल्य ने 'पिण्डकर' कहा है।[१४८]

कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है कि दुर्भिक्ष के समय राजा को भू-राजस्व माफ कर देना चाहिए।[१४९] उसने उपज का छठॉ भाग कर निर्धारित किया है।[१५०] उसने भूमि का वर्गीकरण करने के उपरान्त अलग-अलग कर निर्धारित करने का विधान किया है।[१५१] कौटिल्य की यह व्यवस्था कि जो खेत वर्षा के पानी पर निर्भर न हो उसकी उपज का १/३ या १/४ भाग लेना चाहिए।[१५२] सिंचाई हेतु राज्य के प्रयासों के एवज में कुछ अतिरिक्त भी वसूली है।

डायोडोरस ने 'भूमि लगान' तथा 'भूमि कर' में अन्तर किया है। 'लगान' को भूमि पर और 'कर' को उपज पर लगाया जाने वाला कर बताया है।[५३] घोषाल[५४] ने दो तरह के भूमिकरों का वर्णन किया है। एक तो 'भाग' जो पूर्व वैदिक काल के 'बलि' की तरह का लगान पर आधारित कर था और दूसरा 'हिरण्य' जो फसलों पर नकदी के रूप में लिया जाता था।

कई अन्य लेखकों ने मेगनस्थनीज के हवाले से उपज की एक चौथाई राशि कर के रूप में निर्धारित की है।[५५] परन्तु इतनी भारी कर राशि अत्यधिक उत्पादन वाले क्षेत्रों पर ही लगायी जाती रही होगी। क्योंकि कौटिल्य के पास इतनी समझ तो थी ही कि वह जान सके कि कर राज्य के कोष में तभी आएगा जब प्रजा पर्याप्त उत्पादन करें।[५६] अतः उसने उतनी ही कर राशि को अनुमोदित किया है जितनी प्रजा आसानी से दे सकें।[५७]

अर्थशास्त्र में 'बलि' को एक उपकर की तरह विवृत किया गया है जो उपज के भाग के अतिरिक्त कभी-कभी प्रजा पर आरोपित किया जाता रहा होगा।[५८]

सिंचाई की अनोखी व्यवस्था के एवज में सिंचाई कर की वसूली के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न विचार व्यक्त किए हैं। श्री एम० एच० गोपाल[५९] और श्री ए० एन० बोस[६०] अर्थ शास्त्र के ही एक अन्तः साक्ष्य[६१] के आधार पर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि मौर्यकाल में सिंचाई कर भी लिया जाता था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सरकारी फार्मों पर ही सिंचाई कर की ऐसी व्यवस्था लागू की जाती थी।[६२] लल्लन जी गोपाल का अभिमत है कि सिंचाई के लिए कोई अतिरिक्त कराधान नहीं था।[६३]

अर्थशास्त्र में पशुपालन के व्यवसाय में लगे लोग भी करों से अछूते नहीं थे। मुर्गियों और सुअरों पर उनके मूल्य का १/२ भाग, छोटे पशुओं पर १/६, गाय, भैंस, ऊँट इत्यादि पर उनके मूल्य का १/१० भाग लिया जाता था।[६४]

फसलों की बर्वादी हो जाने पर,[६५] नई भूमि को कृषि योग्य बनाकर खेती करने पर[६६] राजस्व में छूट दी जाती थी। कुछ पवित्र स्थलों जैसे लुम्बिनीवन के निवासियों पर कर में छूट दी गई थी और १/८ भाग कर दिया गया था।[६७] इससे यह भी स्पष्ट होता है कि

राजा को ही कर मुक्ति का पूरा अधिकार था और यह भी कि राजा और प्रजा के बीच अभी सामन्तशाही जैसी कोई व्यवस्था नहीं विकसित हुई थी।

आपात् करों के बारे में भी कुछ सकेत मिलता है। 'प्रणय' नामक कर ऐसा ही आपात कर था।[६८] 'सेनाभक्त' भी ऐसा ही कर था जिसे गॉवों को सामूहिक रूप से सेना के उस गाँव से गुजरने पर उसकी रसद की व्यवस्था के रूप में देना होता था।[६९]

विभिन्न आर्थिक गतिविधियों से जो आय होती थी उसे कई नवीन तथा परम्परागत करों के आधार पर और आगे बढ़ाया जाता था। मौर्यों की यह सुविचारित नीति प्रतीत होती है कि आय का आधा भाग आपातकालीन बीमें के रूप में जमा किया जाय। यह सही है कि अगर ऐसा नहीं किया गया रहा होता तो आम जनता पर इतना अधिक कर भार नहीं रहता। परन्तु समग्र अवलोकन ऐसी राय बनाने की छूट देता है कि आलोच्य कालावधि की अर्थव्यवस्था का तत्कालीन वित्तीय आवश्यकताओं के साथ तालमेल एवं सामंजस्य बैठा लिया गया था।[७०]

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के इस अध्याय में अब व्यापारिक गतिविधियों की गवेषणा आवश्यक प्रतीत हो रही है। एक स्वाभाविक जिज्ञासा सप्रश्न होती है कि कृषि आधारित अर्थव्यवस्था ने जब इतनी सुव्यवस्थति आधार भूत संरचना आधारशिला स्वरूप रख दी थी तो इस पर विकसित औद्योगिक एवं व्यावसायिक समाज की आर्थिक गतिविधियाँ क्या रही होंगी? व्यापार–वाणिज्य का स्वरूप एवं विस्तार क्या और कितना था। समाज की बढ़ती आवश्यकता और उसकी पूर्ति के लिए पर्याप्त अधिशेष, बहुत स्वाभाविक है, कलागत वैशिष्ट्य एवं शिल्पगत दक्षता की ओर प्रयाँण करता। आलोच्य कालावधि ६०० ई० पू० से २०० ई० पू० के प्रारम्भिक चरण में दस्तकारी, उद्योग तथा कुछ अन्य व्यवसायों की 'अभूतपूर्व वृद्धि' का श्रीगणेश हुआ।[७१] प्रो० शर्मा इस अभूतपूर्व वृद्धि को लौह उपकरणों से असम्बद्ध नहीं मानते।[७२] चूंकि प्राक्मौर्य काल, यानि आलोच्य कालावधि का प्रारम्भिक चरण, जिसे बुद्ध का काल भी कह सकते हैं, की प्रमुख विशिष्टता है शहरी अर्थव्यवस्था का विकास।[७३] आलोच्य कालावधि के प्रारम्भिक चरण में दस्तकारी, उद्योग एवं व्यवसायों की अभूतपूर्व वृद्धि एवं उसी काल में शहरी अर्थव्यवस्था के विकास को अगर एक साथ मिलकर देखा जाय तो एक

तात्पर्य यह है कि शिल्पगत दक्षता, कलागत वैशिष्ट्य विविध उद्योगों एवं व्यवसायों में अप्रतिम वृद्धि व्यापारिक गतिविधियों को गति प्रदान करते हैं और इन सबके लिए अनुकूल स्थितियाँ एक बेहतर व्यवस्था एवं सुचारू संचालन की माग स्वरूप नगर या कहें शहर आकार लेने लगते हैं।

साहित्यिक तथा पुरातात्विक साक्ष्यों का समग्र अवलोकन छठी शताब्दी ई० पू० में मध्य गंगा के मैदानी इलाकों में नगरों के प्रारम्भ को एक ऐतिहासिक तथ्य साबित कर देता है। एक जैन धर्म ग्रन्थ कई तरह के नगरों का जिक्र करता है, जैसे करमुक्त नगर, मिट्टी की प्राचीर वाला नगर विशाल नगर, छोटी प्राचीरवाला नगर, समुद्रतटीय नगर, राजधानी।[१७४] लोगों के घर लकड़ी तथा मिट्टी के बने होते थे। पाटलिपुत्र में भवन निर्माण में लकड़ी का प्रयोग पूर्णतया प्रमाणित है।[१७५] इस नगर की रक्षा के लिए लगाए गए खूटों तथा बाढ़ इत्यादि से बचाव हेतु लगाई गई युक्ति की रेडियो कार्बन तिथियॉ लगभग ६०० ई० पू० की है।[१७६]

बुद्ध युगीन नगरों में मिटटी के घर ऐतिहासिक हकीकत है। सोनपुर में दीवार के कुछ अंश प्राप्त हुए हैं जो स्पष्टतः मिट्टी से बना है।[१७७] राजघाट से सरकण्डों की छाप लिए मिट्टी के प्लास्टर एक और सबूत है।[१७८] सच तो यह है कि मध्य गंगा के मैदानों में इसी प्रकार के घर प्राचीनतम नगरों की विशेषता थे।[१७९]

ईंटों के भवनों का अभाव नगरों का अभाव कहीं से भी प्रतिछायायित नहीं होता। भवन निर्माण में पकी ईंटों का प्रयोग मध्य गंगा के मैदानों में पहली बार मौर्यों के काल में हुआ।[१८०] बिहार तथा उत्तर प्रदेश में मौर्य युगीन पकी ईंटों से बनी इमारतें बहुतायत में मिली है।[१८१]

प्रारम्भिक पालि ग्रन्थों में 'नगर' शब्द का उल्लेख है।[१८२] नगरक महानगरक, राजधानी इत्यादि शब्द निश्चित ही नगरों के अवबोधक हैं।[१८३] पाणिनि ने नगरों से सम्बन्धित अनेकशः विवरण दिए हैं।[१८४] धर्मसूत्रों में भी भले ही नगरों के प्रति विरोध की ही भावना का प्रदर्शन है परन्तु जिक्र तो आया है।[१८५] पाणिनि ने भी ग्राम और नगरों में विभिन्नता बताई है।[१८६] उपरोक्त उल्लेख तो मौर्यपूर्व काल में नगरों के अस्तित्व भी उद्घोषणा स्वरूप है।

इस आलोच्य कालावधि में नगरीकरण का सच यह था कि कृषि में लौह तकनीक के प्रयोग और धान की रोपवा पद्धति ने किसानों को इतना अधिशेष उत्पन्न करने में समर्थ बना दिया,[८७] जिससे शहरो में रहने वाले पुरोहित, राज्याधिकारी, शिल्पी कारीगर सिपाहियों इत्यादि की भोजना आपूर्ति सुनिश्चित हो सके। पुष्ट ग्रामीण आधार के बिना न तो जनपदीय राज्य और नही नगरों का अस्तित्व संभव था[८८], क्योंकि शहरों में प्रधानतया ऐसे लोगों की ही संख्या अधिक होती है जो खेतिहर नहीं होते हैं, अतः अगल-बगल के गॉवों से उनके भोजन का प्रबन्ध होना चाहिए। और यही इस आलोच्य अवधि में हो रहा था। नगर सबसे पहले 'बाजार' होते हैं। अतः व्यापार एवं वाणिज्य सम्बन्धी गतिविधियों के केन्द्र स्वत ही हो जाते हैं। शिल्प और उद्योगों के केन्द्र होते हैं, उनके विकास में शहरों की भूमिका असंदिग्ध होती है। मिलिन्द प्रश्न ७५ प्रकार के पेशों का जिक्र करता है।[८९] महावस्तु १०० प्रकार के शिल्पों की सूची प्रस्तुत करता है।[९०] वस्तुतः शहरीकरण की उपयोगिता भी यही थी। यहॉ केवल निठल्ले एवं परजीवी वर्गों की जमात नही थी। कुछ ऐसी आबादी थी। परन्तु कुछ लोग जैसे कारीगर, शिल्पी, दस्तकार या मजदूर सीधे उत्पादन से जुड़े भी थे। चूँकि ये अक्सर नदी के किनारे या आवागमन के सीधे मार्गों पर अवस्थित थे, अतः व्यापार केन्द्रों के रूप में इनका विकास भी हुआ। चूँकि तकनीकी ज्ञान ने शिल्पगत दक्षता को बढ़ावा दिया, शिल्पी समूहों को उनके कार्य का उचित मूल्य मिलने लगा जिसने अनिवार्यतः उन्हें कलागत वैशिष्ट्य के लिए अभिप्रेरित किया। इसी कलागत उत्कर्ष एवं वैशिष्ट्य ने विदेशो में भारतीय माल की प्रतिष्ठा स्थापित की जिससे बड़ी मात्रा में विदेशी व्यापारी आकृष्ट हुए एवं व्यापार तथा वाणिज्य की अपूर्व वृद्धि दृष्टिगोचर होती है। खाद्यान्न उत्पादन में भी शहर में रहने वाले कारीगरों के उच्च्व तकनीकी ज्ञान ने अपना योगदान किया होगा।[९१] क्योंकि उन्हें भी यह पता होगा कि बिना खाद्यान्न के अधिकतम उत्पादन के उनका अस्तित्व ही असंभव था अतः उन्होंने उच्च्व तकनीक से विकसित कृषि उपकरण अवश्य ही बनाए होंगे। राजतंत्र जो तत्कालीन शासन पद्धति के रूप में बहुशः स्वीकृत थी उसके विकास में भी शहरों की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता।[९२]

अब एक नजर विविध शिल्पों एवं उद्योगों की स्थिति, उनकी प्रगति, उनकी उपादेयता एवं उनकी विशिष्टता पर। विभिन्न धातुओं के बारे में आलोच्य कालावधि में काफी उन्नत

ज्ञान प्रदर्शित होता है। डायोडोरस[१९३] ने सोना चांदी और लोहे की अनेक खानों का जिक्र तो किया ही है, टिन इत्यादि धातुओं के भी बहुविध प्रयोग का उल्लेख भी किया है। स्ट्रैवों भी भारत में सोने-चांदी की खानों के बारे में सूचित करता है।[१९४] दीघ निकाय[१९५] में धौकनी से लोहे को पिघलाकर मनचाहा आकार दे देने की लुहार की कला का बुद्ध के मुख से बखान कराया गया है। पाणिनी का भष्ट्र[१९६] तथा पालि ग्रन्थों का 'भस्ता'[१९७] प्राक्मौर्य काल में धैाकनियों के बहुशः प्रयोग का परिचायक है, जिससे यह स्पष्ट है कि धातुओं का ज्ञान एव उनका दैनंदिन कार्यों में प्रयोग सुप्रचलित था।

धौकनियों के प्रयोग ने लुहार की कार्यक्षमता को जरूर बढ़ाया होगा। उनके अलग गाँव का ही वर्णन है।[१९८] जहाँ वे कुठार फाल, चाबुक इत्यादि बनाते थे।[१९९] मौर्य काल में लुहारों को सरकारी सहायता प्राप्त थी एवं किसी तरह की क्षति पहुँचाने पर दोषी को प्राण दण्ड की व्यवस्था थी।[२००] सैन्य संचालन में लोहे के अस्त्र शस्त्रों का महत्व कौटिल्य खूब जानता था। अतः शास्त्रागार निरीक्षक पर उसने एक अलग अध्याय ही दिया है।[२०१] लोहे के तीर बनाने वाला 'ईषुकार' लुहारों से अलग प्रतीत होता है जो व्यवसायों के विशिष्टीकरण का साक्ष्य है।[२०२]

प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में सोने को साफ करने, उस पर पालिश करने की विधि,[२०३] और चाँदी को भी साफ करने की तरकीब[२०४] वर्णित है। अर्थशास्त्र में सोना और चांदी के आभूषणों एव पात्रों के निर्माण सम्बन्धी प्रक्रियाओं को लेकर एक अलग से अध्याय ही दिया गया है।[२०५] सुनार सोने और चाँदी की मुद्राएं भी बनाते थे। जिनकी मजदूरी अलग-अलग बताई गई है।[२०६] प्रो० शर्मा चाँदी के आहत सिक्कों को बनाने के लिए चाँदी की लम्बी चद्दरें तैयार करने को लौहतकनीक में प्रयोग में तौर पर विवृत करते हैं जिनका समय ५०० ई० पू० के आस-पास बताया गया है।[२०७]

ताँबा और कांसा भी ऐसी धातुएँ है जिन का वहुविध प्रयोग आलोच्य कालावधि में, दृष्टिगोचर होता है स्ट्रेवों भारत में तांबे के प्रयोग की जानकारी देता है।[२०८] बिहार के रामपुर्वा से प्राप्त आशोक स्तम्भ में ताँबे का काबला ढाल कर बनाया गया प्रतीत होता है।[२०९] पेरिप्लस में तांबे के निर्यात का विवरण आया है।[२१०]

लकड़ी के कामों में बहुत स्वाभाविक है कि विशेषीकरण की प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। सामान्य जन-जीवन लकड़ी के प्रयोग पर पूरी तरह आश्रित था। नगरीकरण के सन्दर्भ में हम घरों को लकड़ी से बना हुआ देख चुके हैं। क्योंकि घर 'शाला'[२११] की लकड़ी से बनते थे। बहुत संभव है इसी कारण घरों का सामान्य अभिधान 'शाला' हो गया। जैसे गौशाला, पाठशाला, इत्यादि। बढ़ई (वड्ढकि) सामान्य तौर पर सभी ऐसे लोगों के लिए प्रयुक्त शब्द है जो लकड़ी का काम करके अपनी जीविका चलाते थे। परन्तु लकड़ी पर रन्दा चलाने वाले को 'तक्षक' और खराद पर काम करने वाले को 'भ्रमकार' कहा गया है।[२१२] बढ़ई गृह निर्माण के आवश्यक अवयव के तौर पर तख्ते और शहतीर बनाते थे।[२१३] दैनन्दिन कार्यो में उपयोगी वस्तुएं जैसे खटिया एवं पीढ़ा[२१४] तथा गाड़ियॉ भी वहीं बनाते थे।[२१५]

इसके अतिरिक्त भी अनेक शिल्पों एवं उद्योगों का पर्याप्त विकास परिलक्षित होता है। जैसे इत्र बनाना, जातकों[२१६] में एवं कल्प सूत्र[२१७] में इसकी विस्तार से चर्चा है क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि समाज के अभिजात वर्ग में इसकी खासी प्रतिष्ठा थी।[२१८]

हाथी दांत से बनी विभिन्न सामग्रियाँ भी समाज के उच्च्व तबके में अपना विशिष्ट स्थान रखती है।[२१९]

पत्थर के बने बर्तन बहुतायत से प्रयोग में लाए जाते थे।[२२०] तालाबों की दीवारों में पत्थर लगाने की कला भी विकसित हो चुकी थी।[२२१]

शीशे के बर्तन भी प्रचुर प्रयोग के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।[२२२] सर्कप (तक्षशिला) से प्राप्त सीसे की वस्तुएँ निर्माण भी बड़ी उच्च्व प्रविधि प्रस्तुत करती है।[२२३]

मृदभाण्ड़ तो आम जनता के पात्र प्रकार थे। उत्तरी काले ओपदार मृदभाण्ड़ आलोच्य कालावधि से जोड़े जाते हैं। इनकी तुलनात्मक एवं विस्तृत जानकारी प्रो० शर्मा अपने ग्रन्थों में दे चुके हैं।[२२४]

चूँकि हम पहले देख चुके हैं कि आलोच्य कालावधि में उपभोग की अर्थव्यवस्था स्थापित हो चुकी थी। अतः वेशभूषा के प्रति लोग पहले की अपेक्षा सजग और सुरुचि सम्पन्न हो गए थे। अतः वस्तु उद्योग का फलना-फूलना स्वाभाविक था। महावग्ग मे क्षौम,

कपास, रेशम, ऊन और सन के बने वस्त्रों का उल्लेख है।[२२५] दीघ निकाय में नाना प्रकार के वस्त्रों एवं आच्छादनों का वर्णन आता है जिसमे रेशमी पलंगपोश, बकरी के बालों के कम्बल, सफेद कम्बल, फर वाले कम्बल, मणियुक्त चादरें, पशुपक्षी की आकृतियों वाले पलगपोश इत्यादि।[२२६] विनय पिटक सूती और ऊनी वस्त्रों सहित चार प्रकार के वस्त्रों एवं वस्त्रों को रंगने के लिए दस प्रकार के रंगों का विवरण देता है।[२२७] वस्त्रों के चयन एवं वेश भूषा के प्रति सजगता विनय पिटक में एक अध्याय का जगह बना लेती है।[२२८] तो तत्कालीन समाज के उपभोक्ताओं के मध्य यह उद्योग के स्तर पर जरूर ही विकसित हुआ होगा। पाणिनि[२२९] एव हेरोडोटस[२३०] रूई एवं उससे बने वस्त्रों की विशेषताएं विस्तार में कह गए हैं। अर्थशास्त्र से क्षुमा, रेशम और कपास के उत्तम कोटि के वस्त्र निर्माण को पुष्टि मिलती है।[२३१] पाणिनी[२३२] और अर्थशास्त्र[२३३] से ऊनी वस्त्र उद्योग की उन्नत अवस्था का ज्ञान होता है। जातकों में[२३४] एवं मनुस्मृति[२३५] में भी इसके परिचायक साक्ष्य प्राप्त है। रेशमी वस्त्रों के प्रचलित प्रयोग की जानकारी, पाणिनी[२३६] बौद्ध साहित्य[२३७] एवं अर्थशास्त्र[२३८] से होती है। सन और भांग के भी कपड़े बनते थे।[२३९] विनय पिटक[२४०] ६८ प्रकार के वस्त्रों की सूची देता है तो कौटिल्य बुनाई के काम में अनाथ स्त्रियों को लगाने की व्यवस्था देते हैं।[२४१] इससे एक तो अनुपयोगी सदस्यों का समाज की व्यवस्था में उपयोगी सहयोग सुनिश्चित होता है तो दूसरी ओर उत्पादकता में वृद्धि होती है। उत्पादकता तो बढ़ी ही, स्त्रियों की आर्थिक परनिर्भरता भी कम हुई होगी।

विभिन्न बौद्ध ग्रन्थों[२४२] एवं अर्थशास्त्र[२४३] के आधार पर रंगाई की विधियों की जानकारी एवं तकनीक की इतनी उन्नत अवस्था का बोध होता है कि विदेशों तक में इसकी प्रसिद्धि फैल चुकी थी।[२४४]

भवन निर्माण में भी तकनीकी ज्ञान काफी बढ़ा हुआ था। वास्तुविद्या की जानकारी महत्वपूर्ण थी।[२४५] जिसके आधार पर अच्छी भूमि का चयन होता था एवं तत्पश्चात् निर्माण कार्य प्रारम्भ होता था।[२४६] जातक एक महल के निर्माण में १८ शिल्पों के जानकार कारीगर के नियुक्त होने की बात करता है।[२४७]

उपरोक्त शिल्पों एव उद्योगों के अतिरिक्त खांड़ बनाने[२४८] तेल निकालने[२४९] नमक बनाने[२५०] की विधि की जानकारी हो चुकी थी एवं लोगों के जीविकोपार्जन के स्रोत के तौर पर स्थापित हो चुकी थी।

उपरोक्त विश्लेषण यह सिद्ध करने में पर्याप्त होना चाहिए कि आलोच्य कालावधि विविध उद्योग-धन्धों एवं शिल्पों के विकास की सक्षम साक्षी रही। शिल्पगत दक्षता एव कलागत वैशिष्ट्य अपने चरम पर था। विभिन्न व्यवसायों एव उद्योगों से सम्बद्ध लोगों में परस्पर संगठित जीवन के प्रति अभिरुचि एवं आकर्षण का बढ़ाना स्वाभाविक विकास क्रम के तहत तो था ही, एक ऐतिहासिक आवश्यकता के बतौर भी था, क्योंकि बहुत श्रम से सुगठित एव विकसित शिल्पौद्योगिक अर्थव्यवस्था की सुरक्षा, सरक्षा एवं उन्नति के लिए यथेष्ट संगठन अत्यंत आवश्यक था। ऐसे ही संगठित व्यापारिक समूहों को श्रेणी, निगम या निकाय कहा गया। गण एवं 'पूग' भी इसी प्रकार के व्यावसायिक संगठन थे। प्रायः सभी विद्वानों की आम सहमति है कि 'सेणि' अथवा 'श्रेणी' व्यापार वाणिज्य में प्रवृत्त लोगों या कहें शिल्पकारों का संगठन था।[२५१] मजूमदार का अभिमत है कि श्रेणी, एक ही अथवा अलग-अलग जातियो में किन्तु एक ही व्यापार में अथवा उद्योग में प्रवृत्त लोगों का संघटन था।[२५२]

कौटिल्य ने एक ही शिल्प एवं व्यापार के आधार पर अर्थार्जन करने वालों के समूह को श्रेणी कहा है।[२५३] जातकों में अठारह श्रेणियों की चर्चा है।[२५४] परन्तु कहीं भी पूरी सूची नहीं प्राप्त होती। महाउम्मग जातक[२५५] नाम से सिर्फ चार को ही उल्लिखित कर पाता है, काष्ठ कर्मियों की श्रेणी, धातुकर्मियों की श्रेणी, चर्मकर्मियों की श्रेणी एवं चित्रकारों की श्रेणी। राइज डेविड्स ने काफी गहन गवेषणा के उपरान्त अपनी पुस्तक 'बुद्धिष्ट इण्डिया' में तत्कालीन अठारह उद्योगों व्यवसायों एवं शिल्पों की एक अधिकतम संभव सूची प्रस्तुत की है जो निम्नवत है-[२५६]

१. लकड़ी का काम करने वाले २. धातु कर्म करने वाले ३. पत्थर का काम करने वाले ४. जुलाहे, जो संभवतः वस्त्र उद्योग से जुड़े थे ५. चमड़े का काम करने वाले ६. कुम्हार ७. हाथी दाँत के कारीगर ८. कपड़े की रंगाई करने वाला ९. आभूषण निर्माता

१०. मछुआरे ११. शिकारी १२. कसाई १३. भोजन तथा मिठाइयों के निर्माता १४. नाई १५. मालाकार १६. नाविक १७. डलिया बनाने वाले १८. चित्रकार।

धर्मसूत्रों तथा धर्मशास्त्रों में 'गण' और 'पूग' नामक दो अन्य व्यावसायिक संगठनों का जिक्र आया है।[२५७] आर० के० मुखर्जी 'श्रेणी' और 'पूग' में विभिन्नता बताते हैं कि श्रेणी में एक ही शिल्प एवं व्यवसाय के लोग सदस्य होते थे जबकि पूग की सदस्यता विभिन्न जातियों एवं व्यवसायों में लगे लोग भी ग्रहण कर सकते थे।[२५८] याज्ञवल्क्य का भाष्य करते हुए मिताक्षरा का कहना है कि विभिन्न वृत्तियॉ अपनाकर विभिन्न जातियों के लोग एक ही ग्राम में रहते हुए जो संगठन या समूह बनाते हैं वह 'पूग' है।[२५९]

प्रत्येक श्रेणी का एक प्रमुख होता था, प्रारम्भिक पालि ग्रन्थों में उसे 'श्रेष्ठि' कहा गया है[२६०] कहीं-कहीं 'जेट्ठक' तथा 'पमुख' (प्रमुख) भी प्रयुक्त हुआ है।[२६१]

श्रेणियों को पर्याप्त स्वायत्तता हासिल थी।[२६२] यह सदस्यों को ऋण प्रदान करती थी तथा उचित समय पर उनकी वसूली भी सुनिश्चित करती थी।[२६३] इसके अपने नियम होते थे जिसे वह समिति के माध्यम से लागू करती थी।[२६४] विपत्ति की स्थिति में ये राज्य को आर्थिक सहायता भी प्रदान करती थी।[२६५] जनकल्याणकारी कार्य करना[२६६] एवं दुर्भिक्ष में प्रजा की सहायता करना[२६७] इनका कर्तव्य था।

श्रेणियों के प्रधान को राज्य के उच्च पद भी प्रदान किए जाते थे।[२६८] विनय पिटक से यह रोचक तथ्य अभिज्ञात होता है कि श्रेणियाँ अपने सदस्यों की निजी जिन्दगी में भी रुचि लेती थी एवं आवश्यकता पड़ने पर पति-पत्नी के बीच मध्यस्थता भी कर सकती थी।[२६९] जब श्रेणियों में आपसी विवाद होता था तो 'महासेट्ठि' उनका निर्णय करता था।[२७०] मौर्ययुग में तो ये श्रेणियाँ इतनी शक्तिशाली हो गई थी कि कौटिल्य ने राज्य को इनके साथ संघर्ष न करने की सलाह दी।[२७१] इनके पास सैन्य बल भी था। "श्रेणिबल" इसी का अभिद्योतक है, एवं राज्य को आर्थिक सहायता के साथ सैन्य सहायता के लिए भी इन पर आश्रित रहना पड़ता था।[२७२] जहाँ एक तरफ 'फिक' इस तरह की किसी भी संगठनिक सम्भावना से इंकार करते हैं।[२७३] वहीं मजूमदार कारगर तर्कों के सहारे अपनी स्थापना पर डटे हुए हैं कि व्यापारियों के भी इस तरह के संगठन थे।[२७४] तकनीकी विकास ने कई नवीन पेशेवर वर्गों को जन्म दिया।

आनुवांशिक आधारों पर इनका विकास, जाति के रूप में संगठित कर गया। जातिगत आधारों पर ही इनकी श्रेणियां बन गई प्रतीत होती है। और एक ग्राम में रहने लगे, कुम्भकार ग्राम[२७५] कम्मार ग्राम[२७६] इनके प्रमुख भी जेट्ठक कहे जाने लगे जैसे कम्मार जेट्ठक[२७७] मालाकार जेट्ठक[२७८] प्रस्तुत विश्लेषण श्रेणियों की समाज में प्रतिष्ठा एवं व्यापारिक विकास में उनके योगदान को काफी हद तक अभिव्यक्त कर जाता है।

जन, जनपदों से महाजनपदों तक की यात्रा महान् मौर्य साम्राज्य को छोड़कर कोई और मंजिल तय ही नहीं कर सकती थी। परिणामतः जीवन अधिक स्थायित्व पा सका। नगरों का अविर्भाव एवं आवागमन के सुरक्षित मार्गों एवं उत्तम साधनों का उपयोग गतिशीलता को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुआ। मुद्रा अर्थव्यवस्था ने व्यापार वाणिज्य एवं तमाम आर्थिक गतिविधियों का स्वरूप ही बदल दिया इस समय मुद्रा अर्थव्यवस्था इतनी महत्वपूर्ण हो उठी थी कि एक मृत चूहे की भी कीमत लगाई गई।[२७९] मुद्रा के प्रचलन ने जहाँ दूरस्थ प्रदेशों से व्यापार को संभव बनाया वही ऋण पर या बिना ऋण के ही रुपयों में लेन-देन को संभव बनाया। मुद्राओं ने रक्त सम्बन्धों पर आश्रितता भी कम कर दी। वेतन देकर किसी को भी काम पर लगाया जा सकता था। इससे कार्य की गुणवत्ता भी बढ़ी। पहले अक्षमों को भी रक्त सम्बन्धों के आधार पर वरीयता मिलती रही होगी परन्तु अब कार्यक्षम लोगों को वेतन देकर भर्ती किया जा सकता था। मुद्रा ने धन संचय को संभव बना दिया जिससे समाज में असमानता भी बढ़ी होगी। राजस्व वसूली को संभव बनाया। मुद्राओं के बिना नकदी वसूली ही नहीं हो सकती थी। वस्तु विनिमय से व्यापार की संभावनाएं सीमित थी। परन्तु मुद्राओं के प्रचलन असीम संभावनाओं को खोल दिया। राज्य भी व्यापारिक क्रिया कलापों में अपेक्षित सहयोग प्रदान करता था क्योंकि व्यापारिक वस्तुओ पर लगाए कर राजकोष की समृद्धि के प्रमुख स्रोत बन गए थे। विनय में एक स्थान पर राज्य की ओर से कर वसूली के लिए 'चुंगी घर' बनाये जाने का उल्लेख है।[२८०] कौटिल्य भी व्यापारियों के माल की विधिवत जांच-परख सुनिश्चित करते हैं,[२८१] एवं यदि आवश्यक हो तो व्यापारियों को आर्थिक अनुदान भी दिए जाने की व्यवस्था देते हैं।[२८२] तत्कालीन राजमार्ग जंगली जानवरों एवं चोरों-लुटेरों के चलते सर्वथा सुरक्षित नहीं समझे जाते थे।[२८३] अतः व्यापारी प्रायः समूहों में एक काफिला बनाकर चलते थे। इस तरह के काफिलों को 'सार्थ' कहा गया है और काफिले के नेता को

'सार्थवाह' (पालि में 'सार्थ' सत्थ और साथ्रवाह 'सत्थवाह' हो गया था) कहते थे। इसी रूपक का इस्तेमाल करते हुए बौद्ध साहित्य में संघ के शास्ता के रूप में बुद्ध को 'सार्थवाह' कहा गया है।[२८४]

आन्तरिक व्यापार एवं वाणिज्य पर्याप्त उन्नत एवं प्रसरित था। उनका विधिवत विभाजन विशिष्टीकरण एवं संगठन था जिसे अलग-अलग पारिभाषित किया गया था। जातकों से विदित होता है कि विभिन्न व्यवसायों के आधार पर विधिवत 'वीथियॉ' बनी थी।[२८५] बाजारों मे कपड़े रथ, तेंल, अन्न, शाक, रत्न, सोना चांदी विभिन्न आभूषण बेचे एवं खरीदे जाते थे।[२८६] थोक व्यापारी 'क्रय विक्रयिक' कहा जाता था।[२८७] जो व्यापारी गाड़ियों पर माल लाद कर घर-घर बेचते थे, उन्हें जाते समय 'द्रव्यक' तो माल बेच कर लौटते समय 'वस्निक' कहा जाता था।[२८८] वस्निक उनको भी कहा जाता था जो सिर्फ पूँजी निवेश करते थे।[२८९] वस्तुओं के विक्रय के आधार पर व्यापारियों को नामित किया गया जैसे 'अश्ववाणिज' 'गोवाणिज'[२९०] कभी-कभी अपने स्थान के नाम पर भी वे जाने जाते थे। जैसे 'कश्मीर वाणिज', 'मद्रवाणिज'।[२९१]

दूकान अथवा बाजार के लिए 'आपण'[२९२] शब्द एवं दूकानदार के लिए संभवतः आपणिक शब्द व्यवहृत था।[२९३] मांस, शराब, अस्त्र-शस्त्र, एवं दासों की खरीद फरोख्त खुले आम नहीं की जाती थी।[२९४]

बौद्ध युग में व्यापारी वर्ग की अभूतपर्व उन्नति के दर्शन होते हैं उस समय के व्यापारी दो सौ से चार सौ प्रतिशत तक लाभ की कामना करते थे।[२९५] शायद इसीलिए कुछ तो ३२ से लेकर ८० करोड़ तक के स्वामी थे। बौद्ध युग में राज्य कर्मचारी भी घूस लेते थे[२९६] और इस कमजोरी का लाभ उठाकर तत्कालीन व्यवसायी अधिकाधिक लाभ कमाते थे।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में आर्थिक गतिविधियों की विधिवत चर्चा की है।[२९७] बाजार में बेची जाने वाली वस्तु 'पण्य' थी तो व्यापार की देखभाल के निमित्त कर्मचारी 'पण्याध्यक्ष' थां वह जल पथ और स्थल पथ की वस्तुओं के मूल्य में तालमेल रखता था एवं उत्पादित सामान का विक्रय सुनिश्चित करता था।

जल्दी खराब होने वाले माल की बिक्री पहले सुनिश्चित की जाती थी। एवं राज्य की जनता को न्यूनतम मूल्य पर वस्तुएँ सुलभ हो सके इसकी व्यवस्था की जाती थी।[२९८]

स्पर्धा के कारण निश्चित मूल्य से अगर अधिक ले लिया जाता था तो वह अंश राजकोष में जमा कराना पड़ता था।[२९९] पण्य सम्बन्धी चुगीं, माप-तौल, एवं विदेशी व्यापार के लिए क्रमशः शुल्काध्यक्ष, पोताध्यक्ष एवं अन्तपाल नामक अधिकारी नियुक्त थे।[३००] धोखा देकर घटिया माल की बिक्री के जुर्म में आर्थिक जुर्माना विहित था,[३०१] कौटिल्य ने माल रोककर सामूहिक मुनाफाखोरी को भी एक-एक हजार के आर्थिक दण्ड लगाकर नियंत्रित करने का प्रयास किया है,[३०२] मिलावट रोकने के उद्देश्य से भी अर्थ दण्ड का विधान किया गया[३०३] कम तौलने पर भी अर्थदण्ड दिया जाता था।[३०४]

यह बड़ा रोचक है कि आर्थिक अपराधों के लिए कौटिल्य कोई शारीरिक दण्ड लगभग नहीं ही निर्दिष्ट करते हैं। दण्ड भी जुर्माने के बतौर कम या अधिक आर्थिक ही होता था। इसका प्रधान उद्देश्य राजस्व की वृद्धि ही प्रतीत होता है।

अब विदेशी व्यापार की दशा पर दृष्टि डाली जाय जिससे व्यापार वाणिज्य की समुचित समालोचना हो सके। नगर जीवन की ही भाँति व्यापार को भी लगभग एक हजार वर्षों बाद पुनर्जीवन मिलता है। पाँचवी सदी ई० पू० में भारत का विदेशों से व्यापार अपनी चरम अवस्था में था।[३०५]

समुद्र मार्ग से होने वाले व्यापार में जोखिम तो होता था।[३०६] परन्तु लाभांश की अधिकता शायद इसके लिए उत्प्रेरित करती थी। महाजन जातक[३०७] भारतीय व्यापारियों द्वारा सुवर्ण भूमि की यात्रा किये जाने का वर्णन करता है। वर्मा, मलाया, स्याम, कम्बोडिया, एवं अनाम आदि को संयुक्त रूप से सुवर्णभूमि कहा जाता था।[३०८] भारतीय व्यापारी तमाम कष्ट झेल कर एवं नाना प्रकार के खतरे उठाकर अर्थार्जन के लिए सुदूरवर्ती प्रदेशों की यात्राएं किया करते थे।[३०९] स्वाभाविक है कि इस क्षेत्र में यानि नौ परिवहन में भारतीयों का ज्ञान काफी उन्नत था।[३१०] मेगस्थनीज राज्य द्वारा जहाज किराये पर दिये जाने की बात करता है,[३११] तो कौटिल्य भी कहते हैं जहाज डूब जाय तो सरकार द्वारा उसका किराया लौटा दिया

जाय।[३१२] दिशाओं के ज्ञान के लिए कौओं के उपयोग में लाए जाने पर प्रायः सभी साक्ष्य एक ही तथ्य स्थापित करते हैं।[३१३]

दीघ निकाय[३१४] और जातकों[३१५] के आधार पर कच्छ की खाडी पर स्थित 'रोरुक' बन्दरगाह की आलोच्य कालावधि में महत्वपूर्ण स्थिति का पता चलता है। भरुकच्छ एक अन्य महत्वपूर्ण बन्दरगाह था, जहॉ से दक्षिण पूर्व एशिया तथा ताम्रपर्णि (श्रीलका) से व्यापार होता था[३१६] अर्थशास्त्र में 'नावाध्यक्ष' नामक अधिकारी नदी, समुद्र सभी तरह के जलमार्गों का निरीक्षक था एवं तट पर बसे लोगों से राजकीय कर वसूलता था।[३१७] कौटिल्य व्यापार के महत्व को प्रदर्शित करते हुए कहता है कि जल और थल के रास्तों पर पुल और सड़के राजा को बनवानी चाहिए।[३१८] मौर्योत्तर काल में व्यापार पर राज्य का उतना नियत्रण नहीं था। मनु ने व्यवस्था दी है राज्य के एकाधिकार वाली वस्तु के निर्यात कर देने पर पूरी सम्पत्ति जब्त कर ली जाय।[३१९] यह व्यवस्था इसलिए थी कि राज्य का नियत्रण बरकारार रहे। प्रस्तुत ऑकलन यह साबित करता है कि आलोच्य कालावधि का आन्तरिक एवं बाह्य व्यापार पर्याप्त समुन्नत एवं समृद्ध था तथा तत्कालीन आर्थिक समृद्धि में अपनी भूमिका का समुचित निर्वाह कर रहा था।

चूंकि आलोच्य कालावधि में किसी बैंक जैसी संस्था का अभाव था अतः लोग या तो अपने धन को जमीन के नीचे गाड़ देते थे[३२०] या फिर किसी मित्र के पास धरोहर के तौर पर सौंप जाते थे।[३२१]

बुद्ध के काल में ऋण का लेन देन, व्यापार के उद्‌देश्य से होने लगा था और एक उल्लेख से पता चलता है कि ऋण के द्वारा व्यक्ति अपने व्यापार को बढ़ा सकता था। पुराने ऋण चुका सकता था, एवं परिवार के लिए कुछ बचा भी सकता था।[३२२] ऋण चुका कर एक व्यक्ति को सानंद भोजन करते हुए दिखाया गया है।[३२३] यह भी कहा गया कि यदि कोई व्यक्ति ऋणि नहीं है तो वह मानसिक सुख शान्ति का अनुभव करता है।[३२४] एक आदर्श व्यापारी से यह अपेक्षा की गई है कि वह व्याज सहित ऋण वापसी की साख बनाए।[३२५] आलोच्य कालावधि में ब्राह्मण व्यवस्थाकारों के अनुसार ऋण पर ब्याज की दर काफी अधिक प्रतीत होती है।[३२६] ऋण ग्रस्त व्यक्ति को संघ में प्रवेश की अनुमति नहीं थी, क्योंकि धनी ऋणदाताओं को इससे परेशानी होती थी। वे अपना धन वसूल नहीं कर सकते थे।[३२७]

उपरोक्त विवेचन तत्कालीन अर्थव्यवस्था में ऋण के लेनदेन में व्यापक स्तर पर प्रचलन का प्रमाण है। बुद्ध ने तो ऋण लौटाने पर बल दिया ही, ब्याज चुकाने को भी उत्प्रेरित किया एवं अर्थव्यवस्था के बदलते मिजाज के अनुरूप अपनी शिक्षाओं को भी व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया। यह सच है कि ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने ऋण और ब्याज के प्रति कुछ विरोध का रवैया अपनाया था।[३२८] और यदि ऋण ओर ब्याज की अनुमति थी भी तो उसे भी वर्णगत आधारों पर नियमित किया गया। हॉ कौटिल्य जरूर ऋण और ब्याज से सम्बन्धित मामलो में उदार, लचीला और व्यापक दृष्टिकोंण अपनाते हैं जो एक विशाल साम्राज्य में निर्माता और नियामक के लिए तत्कालीन अर्थव्यवस्था के अनुरूप ही था।

मापतौल के विवरण देते कई शब्द बहुशः प्रयुक्त है। पालि विनय का 'पत्थ' बहुत संभव है अन्नों की नपाई का कोई मानक पात्र था।[३२९] अर्थशास्त्र में यही 'प्रस्थ' है।[३३०] महावग्ग[३३१] में 'आल्हक' और 'द्रोणि' नाम से दो परिमाण बोधक शब्द है जो कौटिल्य ने[३३२] भी 'आढ़क' और 'द्रोण' के रूप में विवृत किया है।

आभिधम्मप्पदीपिका में विभिन्न माप की इकाइयों का पारस्परिक अनुपात कुछ इस तरह से है ४ कुड़व = एक प्रस्थ, ४ प्रस्थ = १ आढ़क, ४ आढ़क = १ द्रोण, ४ द्रोण = १ माणी तथा ४ माणी = १ खरी।[३३३] लम्बाई का नापने की पद्धति में अंगुल, विदित्थ, हत्थ, अव्मन्तर एवं योजन जैसी माप की इकाइयाँ प्रचलित थी।[३३४] प्राणनाथ ने बेबीलोनी मापन पद्धति से भारतीय पद्धति की तुलनात्मक समीक्षा के बाद उनको एक ही तरह से उद्भूत यानि सहजात माना है परन्तु इस क्षेत्र में भारतीयों के मौलिक विकास को एकदम से नकरा नहीं जा सकता।[३३५]

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के इस चतुर्थ अध्याय 'अधीत कालीन आर्थिक संयोजन' में ई० पू० ६०० से ई० पू० २०० के मध्य हुए आर्थिक क्रियाकलापों का एक आलोचनात्मक विवरण देने का प्रयास किया गया है। कृषि से लेकर व्यापार वाणिज्य एवं विविध शिल्पौद्योगिक विकास तथा मुद्रा अर्थव्यवस्था, नगरीकरण एवं शिल्प संघटनों इत्यादि की गहन गवेषणा के तहत उनके विकास क्रम एवं समय-समय पर हुए परिवर्तनों को भी रेखांकित किया गया है। वैसे अधीन कालीन अर्थ संयोजन के विश्लेषण के उपरान्त यह निष्कर्षित होता है कि ऐसी जटिल अर्थ संरचना में इससे इतर समाज बनाना भी नहीं था और न ही बना।

संदर्भ संकेत एवं टिप्पणियाँ

१ प्रधानतया लोहे के फाल की खेती से आशय हैं।

(क) एक परवर्ती पालि ग्रन्थ में 'अयंगल' अथवा लोहे के हल के फाल का विवरण प्राप्त होता है (पालि इग्लिश डिक्सनरी, पालिटेक्स्ट सोसाइटी , लदन १६२१ में 'अयनगल' शब्द के अन्तर्गत टी० डब्लू० राइज डेविड्स इत्यादि विद्वान)

(ख) सुत्तनिपात के कोकालिक सुत्त में एक लौह फाल को दिन भर धूप में तपाए जाने का उल्लेख है।

(ग) पाणिनि ने लोहे की फाल को 'अयोविकार कुशी' कहा है। पुनश्च पाणिनि एव प्रारम्भिक पालिग्रन्थ 'अयोधन' की चर्चा भी करते हैं जो शायद 'हथौड़ा' को अभिव्यक्त करता है, उपरोक्त सन्दर्भों में लिए देखे रामशरण शर्मा की 'प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाए', पृ०-१३८, एव विस्तृत विवरण हेतु, वही, पृ० १३७, ३८, ३६, ४०, ४१, ४२, ४३

२ शर्मा आर० एस०, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाए, राजकमल प्रकाशन, पृ० १५६-५७ शर्मा आर० एस०, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और समाजिक इतिहास पृ० -१४६-४७,

३. कौसम्बी डी.डी. द कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन आफ इण्डिया इन हिस्टारिकल आउटलाइन, लन्दन १६६५ पृ० १००-१०२।

४ जहा श्रेष्ठियों एव गहपतियों के ऐश्वर्य पूर्ण जीवनचर्या के दृष्टान्त भरे पडे हैं वहीं दरिद्रता के भी अनेकश उद्धरण मिलते हैं, जैसे- महावग्ग, पृ० २३०, २६६ एव पाराजिक पृ० ६१

५ पाचितिय पृ० ११

६ स्मिथ, बी० ए०, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० १७३

७ समद्दर, जे० एन०, लेक्चर्स आन दि इकानमिक कन्डीशन इन एन्श्येन्ट इण्डिया, कलकत्ता १६२२, पृ० १६८।

८ द० सैक्रेड बुक्स आफ दि इस्ट, जि० -३५, पृ० २५६, मनु ८.३६ पर टिप्पणी

६ द्र०, के० पी० जायसवाल, हिन्दू पालिटी, पृ० ३३० के० आर० आयगार, ऐन्श्येण्ट इण्डियन इकानामिक थाट, पृ०१०४, अन्यानेक विद्वान भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व की पुष्टि के लिए वैदिक साक्ष्यों का हवाला देते है। जैसे श्रेडर, मैकडानेल और कीथ, वन्द्योपाध्याय तथा घोषाल इत्यादि। इनके विस्तृत विवरण के लिए ओम प्रकाश की पुस्तक 'प्राचीन भारत का सामाजिक एव आर्थिक इतिहास, चतुर्थ सस्करण के आर्थिक इतिहास खण्ड के द्वितीय अध्याय की सन्दर्भ सख्याएं १,२,३ और ४ देखी जा सकती है, अपरच जी० एस० पी० मिश्र की 'प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था' पृ० १८४ भी द्रष्टव्य है।

१०. यवरचेत्त सामी ब्राह्मणवत्थु, पाचितिय, पृ० ३६२, वही पृ० ७१ आचाराग सूत्र (जैन सूत्र भाग१) पृ० १६, यहाँ स्पष्ट शब्दों में भूमि और गृह की चर्चा सम्पत्ति के व्यक्तिगत मद मे है। जातक, ३, ३०१ से आगे; दीघ निकाय, १२.७।

११. महावग्ग, पृ० १५६, द्र० मिश्र जी० एस० पी०, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था, पृ० १८४- "इधधन भिक्खवे............हिरण्यं वाते देमि, सुवण्ण वाते देमि खेत्त वात्ते देमि ...... चीवर"

१२. विनय पिटक २, १५८, १५६

१३. महावग्ग, पृ० २४८, थेरी गाथा, ३४०

१४. गौतम, १०, ३६, ४१

१५. चुल्लवग्ग, पृ० २५२-२५३

१६. थापर रोमिला, अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन, पृ० ६१

१७ जायसवाल, के० पी०, हिन्दू पालिटी, खण्ड २, पृ०-१३७, ८८

१८ श्रीमती राइज डेविड्स, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जि० १, अ० ८, पृ० १७६।

१६ कौटिल्य, अर्थशास्त्र ३ ६.७

२०. वही ३, १०, २६

२१ अर्थशास्त्र ३, १७, ८

२२. मनुस्मृति, ६.४४

"पृथोरपीमां पृथिवीं भार्यां पूर्व विदो विदु
स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहु: शल्यवतो मृगम्।।"

२३. मिश्र जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ५६६

२४ अर्थशास्त्र २.२४, २ १
भट्टस्वामी का भाष्य, अर्थशास्त्र २.२४

२५ मनुस्मृति, ८.३६, मेघातिथि, मनु ८ ३६

२६ अर्थशास्त्र, २.१ १०

२७ अर्थशास्त्र, ३.६

२८ पाचित्तिय, पृ० ५३, 'जाता पथवी' और 'अजाता पथवी' का अर्थ उपजाऊ और अनुपजाऊ भूमि ज्यादा तर्कसगत प्रतीत होता है, जिसे जी० एस० पी० मिश्र ने अपनी पुस्तक 'दि एज आफ विनय' की पृ० स० २४३-४४ पर टि० २४ के रूप में प्रस्तावित किया है। 'बुक आफ दि डिसिप्लिन' भाग-२ पृ० २२३-२४ पर आई० वी० हार्नर ने इसका अर्थ 'नेचुरल' तथा 'आर्टीफिसियल' बताया है परन्तु बाद में उन्होंने भी प्रो० मिश्र के अनुवाद को ही सस्तुति प्रदान की है।

२९. सयुक्त निकाय, ४, ३१४-१७

३० अगुत्तर निकाय, ४. २३७-३८

३१ अगुत्तर निकाय ४ २३७

३२. मिश्र, जी० एस० पी० 'प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था पृ० १८६।

३३. विस्तृत विवरण के लिए देखें, मिश्र जी० एस० पी० 'प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थ व्यवस्था, पृ० १८५-८६

३४. पाराजिक, पृ० २८।

३५. अष्टाध्यायी, ५.२ २

३६. जी० एस० पी० मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था, पृ० १८६।

३७ अग्रवाल, वी० एस०, पाणिनि कालीन भारतवर्ष, हिन्दी, वाराणसी, १९६६ पृ० २०१।

३८. रामगोपाल, इण्डिया आफ वैदिक कल्पसूत्राज, अध्याय १६।

३९. अग्रवाल, ऊपर उल्लिखित, पृ० १९६।

४०. द्र०, वैदिक इडेक्स, जि० २, पृ० ३१।

४१ चुल्लवग्ग, पृ० २७६।
अत्यत्र, पालि इंग्लिश डिक्शनरी में 'नगल' शब्द के अन्तर्गत यह बताया गया है कि प्रारम्भिक पालिग्रन्थों में यह शब्द बहुशः प्रयुक्त है।

४२. अष्टाध्यायी, ३.२.१८३, ४.३ १२४, ४.४.८१।

४३ लोहे की फाल के प्रयोग से सम्बन्धित विवरण के लिए देखें इसी अध्याय की सन्दर्भ सख्या-१०।

४४ बौधायन धर्मसूत्र, ३.२.५.६।

४५. अग्रवाल, पूर्वोद्धृत, पृ० २००।

४६. सोमदत्त जातक, जातक, जि० २. संख्या २११, पृ० ११५।

४७. जी० एस० पी० मिश्र, दि एज आफ विनय, पृ० २४५. 'सीता का कृषि की देवी के रूप में उल्लेख, ऋग्वेद तथा परवर्ती संहिताओं में और गृह्यसूत्रों में 'सीता' का हराइयों की देवी के रूप में वर्णन जरूर एक ही तथ्य की ओर इशारा करते है कि इनका आपसी सह सम्बन्ध है। हराई से ही 'सीता' जनक की पुत्री का जन्म भी आकस्मिक नहीं प्रतीत होता।

४८. आई० वी० हार्नर, द बुक आफ दि डिसिप्लिन भाग १ पृ० २२० टि० १

४९ पाराजिक प्र० १८६।

५० विशेष विवरण के लिए देखें प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का आगामी अध्याय एवं उसकी सदर्भ स० २८।

५१ जी० एस० पी० मिश्र, दि एज आफ विनय, पृ० २४५-४६।

५२. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाऐं, पृ० १४३।

५३ पालि इगलिश डिक्शनरी में 'रोपन' तथा 'रोपेति' शब्दो के अन्तर्गत।

५४ अगुत्तरनिकाय, १, पृ० २३९-४० 'पतिटठोपेत्ति' शब्द को पालि इंग्लिश डिक्शनरी में भी देखा जा सकता है जिसमें इसका अर्थ, 'स्थापित करना', प्रतिष्टापित करना, में रख देना इत्सादि किया गया है।

५५. वी० एस० अग्रवाल, ऊपर उल्लिखित पृ० २०४, 'ब्रीहि' वर्षा ऋतु की फसल और शरद ऋतु की फसल के रूप में 'शालि' को व्यवहृत बताया गया है। दोनों ही शब्द चावल को अभिव्यंजित करते है।

५६ वही।

रोपवाँ पद्धति के विकास, प्रवर्तन एव बुद्ध के समय में इसके प्रचलन से सम्बन्धित विस्तृत विवरण के लिए देखें-रामशरण शर्मा की पुस्तक, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाएँ पृ० १४३-४५।

५७ पालि इग्लिश डिक्शनरी में 'कदली' शब्द के अन्तर्गत पालिग्रन्थों में केले से सम्बन्धित उल्लेखों के सन्दर्भ में।

५८ सपा० एन० सी० वैद्य पूना, १६४०, ७, ६८ पृ० ८६।

५६ रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाए पृ० १४५

६० जयशकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ५७६, रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाए पृ० १४६।

६१ जातक, २, पृ० ७४, १, ४२६, ५ ३७, १ ४२६, २ १३५, ३ ३८३, ४ २७६, ५ ४०५, ६ ५३०, २ २४०, ६ ५३६, ४ ३६४।

६२ जातक ६ ५२६

६३ जातक, १.२४४, २. ३६३, ३. २२५, ५ १२०, ६. ५३६।

६४ रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाए पृ० १४६

६५ नायाधम्मकहा, ७.८६ सूयगडम ४.७ १२

६६ जातक २, १४१, ६.१६७

६७. नायाधम्मकहा ७ ८६सूयगडम, ४, ७ १२

६८. जी० एस० पी० मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था, पृ० १६२।

६६. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाए पृ० १४६

७०. जी० एस० पी० मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था पृ. १६२

७१ वही

७२ वही,
जैन ग्रन्थों एव पालि विनय में उल्लिखित कृषि उत्पादनों एव अन्नों की विस्तृत जानकारी के लिए द्र० जे० सी० जैन, लाइफ इन ऐन्श्येण्ट इण्डिया ऐज डिपिक्टेड इन दि जैन कैनन्स पृ० ६०-६२ एव जी० एस० पी० मिश्र की दि एज आफ विनय, पृ० २४६-५३।

७३. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाएँ पृ० १४७।

७४. वही

७५ वही

७६. अर्थशास्त्र २.१ (कर देभ्यः कृत क्षेत्राणि .. अकृतानि कर्तृतृभ्यो नादेयात्)

७७. वही, (स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहु शल्यवतो मृगम्)

७८. वही २.२४ (शखिना गर्तदाहो गोऽस्थिशकृद्भि काले दौहृदम् च प्ररुढाश्चाशुष्क मत्स्यांश्च स्नुहि क्षीरेण वाययेत) जानवरों की अस्थियाँ एव गोबर की मिश्रित खाद तथा मछलियों को भी खाद के रूप में इस्तेमाल किया जाता था।

७६. अर्थशास्त्र २.२४ (शालि ब्रीहि को द्रव तिल.. .... मृद्गमाष शैम्ब्या मध्यवायाः, कुसुम्भ मसुर. ... पश्चाद्वाप)

८० अर्थशास्त्र, २.२४

८१ मनुस्मृति ६.३३०, ६. ३८-३६, ६.११, १० ८४।

८२ महावग्ग, ८ १२ १-२

८३ चुल्लवग्ग, ७.१२, ५.१७.२

८४ जातक, १. १६६, १. ३३६, २. ४१२

८५. अष्टाध्यायी, ४.३ १३६, ३.३ ५१, ३.३ १२३

८६ विष्णुधर्मसूत्र, ६१.१, वशिष्ठ धर्मसूत, १७, ८

८७ उद्घृत जे० सी० जैन, लाइफ इन ऐन्श्यंण्ट इण्डिया एज डिपिक्टेड इन दि जैन कैनन्स भाग-१ पृ० ८६

८८ चुल्लवग्ग, पृ० २६२, जैन वृहत्कल्प भाष्य में 'रहट' के लिए 'अरहट्ट' शब्द आता है। जे० सी० जैन पूर्वोक्त प्र० ८६

८६. प्रो० रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास पृ० १५४

६० अर्थशास्त्र ६.१

६१. अर्थशास्त्र २.२४

९२ अर्थशास्त्र २.६

९३ द्र० जी० एस० पी० मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था, पृ० १८८-१८६

९४ अर्थशास्त्र ४.११

९५ द्र० राजबलिपाण्डेय, हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इन्सक्रिप्शस पृ० ६२-६३

९६ स्ट्रवो, १५.१.५०

९७. मनुस्मृति ६, २७६
'तडाग भेदक हन्यादप्सु शुद्धबधेन वा'
अपरच, ६.२८१
'यस्तु पूर्व निविष्टस्य तडागस्योदक हरेत्'

९८ महावग्ग ६.२३.१० के आगे
इस दुर्भिक्ष में हाथी, घोड़ा, साप, कुत्ता इत्यादि के मास खाते लोगों को विवृत्त किया गया है।

९९ चुल्लवग्ग ६.२१.१

१०० सुत्त निपात २.१

१०१. डायोडोरस २.३६

१०२ डायोडोरस २.३६

१०३ परिशिष्ट पर्वन ७१, ८ पृ० ४१५ और आगे

१०४. सरकार, सिलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृ० ८२, ८५

१०५. जातक, ४. २७७, ५. ३३६, ४ २६२, १ १६३, १ १५३,५४

१०६ चुल्लवग्ग, १०.१ ६ अंगुत्तर निकाय ४ २७६

१०७. मिलिन्द पन्ह, पृ० ३०८

१०८. जी० एस० जी० मिश्र प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था पृ० १६०

१०६. अर्थशास्त्र २.२४

११० अर्थशास्त्र २.१

१११ अर्थशास्त्र १३.२

११२. द्र० आर० गांगुली, फेमिन इन ऐन्श्येण्ट इण्डिया, एनल्स आफ दि भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट जि० १५ १६३३ -३४ पृ० १७६-७७

११३. महावग्ग, ३, १-३, चुल्लवग्ग, ५.३२.१

११४. जैकोबी, जैन सूत्राज, २ पृ० ३५७

११५. कौटिल्य २.२

११६. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाए, पृ० १४८

११७. वही

११८. ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एव आर्थिक इतिहास, खण्ड द्वितीय, पृ० १५

११६. अर्थशास्त्र ४.११

१२० अर्थशास्त्र २.६, २.१७, ७.१४

१२१ वही ७.१२

१२२. मनुस्मृति ११.६४
(इन्धनार्थमशुष्काणा द्रुमाणमवपातनम्)

१२३ रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाए, पृ० १७०, १७१, १७२
अपरंच, रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास पृ० १४५।

१२४ विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य वी० एस० अग्रवाल, इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, जी० एस० पी० मिश्रा, दि एज आफ विनय।

१२५. पाचितिय, पृ० ११

१२६ मिश्र जी० एस० पी०, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृ० १६३

१२७. वैदिक एज, पृ० ५३०

१२८ अर्थशास्त्र १.४

१२६ मनुस्मृति, ६. ३२७, ६. ३२८, ६ ३२७ प्रजापति ने पशुओं को उत्पन्न करके वैश्य को दे दिया। ६ ३२८ वैश्य यह कभी न समझें कि मैं पशुपालन नहीं करुँगा।

१३० जातक, ३, ४०१

१३१ जातक, ३, ४७६

१३२ पाराजिक, पृ० ६

१३३. पाचित्तिय, पृ० १४५

१३४ अर्थशास्त्र पृ० ४६ (शामाशास्त्री का सस्करण)

१३५ स्ट्रेवो, १५ १ ४१ से आगे
प्लिनी, ६ २२, एरियन १७।

१३६ सुत्तनिपात, ब्राह्मण धम्मिक सुत्त।
'गावो नो परमामिता यासु जायन्ति ओसधा, अन्नदा, बलदा, चेता वण्णदा सुखदा तथा'

१३७ रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाऍं, पृ० १५६।

१३८ बौधायन धर्मसूत्र, १ १०.१८.१, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १ १०, २६-२६, गौतमधर्मसूत्र, १०, २७, वशिष्ठ धर्मसूत्र १.४२, विष्णु, ३.२२

१३६ वशिष्ठ धर्मसूत्र १६, १४

१४० गौतम १०, २४

१४१ वी० एस० अग्रवाल, इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि, लखनऊ १६५३ पृ० ४१४-१५

१४२ द्र० 'बलि' और 'भाग' के अन्तर्गत पालि टेक्स्ट सोसाइटी द्वारा प्रकाशित शब्द कोष

१४३ दीघ निकाय, सेक्रेड बुक्स आफ दि बुद्धिस्ट सीरीज पृ० ८८

१४४. यू० एन० घोषाल, हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ० ५८ पाणिनि ने उपज पर कर की मात्रा १/६ से १/१२ तक कुछ भी बतायी है। गौतम १/६, १/८, १/१० के रूप में कई दरें निर्धारित करते है। जो बहुत संभव है कि भूमि की प्रकारों के अनुसार ही तय की जाती रही हो।

१४५ रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास पृ. १४६

१४६. अर्थशास्त्र २ ३५

१४७. वही

१४८. अर्थशास्त्र २ १५

१४६. अर्थशास्त्र २.१

१५०. अर्थशास्त्र १.१३, २.१६

१५१. अर्थशास्त्र ५.२

१५२. अर्थशास्त्र ५,२

१५३. डायोडोरस २, ४०

१५४. घोषाल, दि ऐग्रेरियन सिस्टम इन ऐंश्येण्ट इण्डिया पृ० ६

१५५. इण्डिका, ६ डायोडोरस, २.४०, स्त्रावो १.४०

१५६. अर्थशास्त्र २.१

१५७. वही ५, २

१५८ घोषाल, सम हिन्दू फिस्कल टर्म्स डिस्कस्ड, उपर्युक्त पृ० २०३

१५६ एम० एच० गोपाल, मौर्यन पब्लिक फाइनेन्स पृ० ७१ के आगे

१६० अतीन्द्रनाथ बोस, सोशल एण्ड रूरल इकानामी, पृ० १०२

१६१. अर्थशास्त्र २.२४
हाथ से सिंचाई पर उपज का १/५ भाग, कन्धे पर पानी ले जाने पर १/४ भाग रहट से सिचाई पर १/३ भाग, नदियों-तालाबों से सिंचाई करने पर १/४ भाग

१६२ घोषाल, हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम्, पृ० २६ के आगे।

१६३. लल्लन जी गोपाल, हिस्ट्री आफ एग्रीकल्चर इन एन्श्येण्ट इण्डिया, पृ० १७६-८३

१६४ अतीन्द्र नाथ बोस, सोशल एण्ड रूरल इकानामी पृ० १६८ पर टिप्पणी।

१६५. अर्थशास्त्र २.१

१६६ अर्थशास्त्र ३.६

१६७ रोमिला थापर, अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन, पृ० ६५

१६८ रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास पृ० १५५

१६६ वही

१७० रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास पृ० १५४-१५५।

१७१. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक सरचनाए पृ० १४२, सदर्भ स० ६४, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वीरेन्द्र प्रताप सिह के पी० एच० डी० निबन्ध के हवाले से

१७२ वही

१७३ विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और मामाजिक इतिहास पृ०१४६

१७४ अन्तगडदसाओं, अनु० एल० डी० बार्नेट, पृ० ४४-४५ कल्पसूत्र, सपा० जैकोबी पृ० ८६ सूयगडम, सपा० पी० एल० वैद्य, ११.२६

१७५ विस्तृत विवरण के लिए द्र० के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री (सपा) एज आफ दि नदाज एण्ड मौर्याज दिल्ली १६६७ पृ० ११८

१७६ प्रारम्भिक तिथि, ६०५ ई० पू० (आई० ए० आर० १६७१-७२, पृ० ८२) से ५३० ई० पू० (रेडियो कार्बन जि० १५ पृ० ५७८)

१७७ बी० पी० सिन्हा तथा बी० एस० वर्मा, सोनपुर एक्सकैवेशस पटना, १६७७ पृ० ६

१७८ ए० के० नारायण तथा टी० एन० राय, एक्सकैवेशंस एट राजघाट भाग-१ वाराणसी १६७७ पृ० २३

१७६ रामशरण शर्मा, भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाए पृ० १५७

१८० रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास पृ० १५६

१८१ वही

१८२. अगुत्तर निकाय, (पा० टे० सो०) १ ७८

१८३ दीघ निकाय, २.८७-८८

१८४ अग्रवाल, पाणिनी कालीन भारतवर्ष, ७६ ८७

१८५. बौ० ध० सू० २.३.६ ३३-३४ आपस्तम्ब, १.२.३२,३२

१८६. अष्टाध्यायी, ७. ३.१४

१८७. डी० डी० कोसम्बी, प्राचीन भारत की सस्कृति और सभ्यता, पृ० ११६

१८८. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाए पृ० १५७

१८६ मिलिन्द पन्हो, पृ. ३३१ रामशरणशर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास पृ० १८५

१६०. रामशरण शर्मा, वही, महावस्तु संदर्भ, सेनार्ट, ३, ४४२-४३

१६१. रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास पृ० १८७

१६२. वही

१६३. डायेडोरस, २.३६

१६४ स्ट्रैवो ३०

१६५. दीघ निकाय, २३.१७

१६६. अग्रवाल, पाणिनि कालीन भारतवर्ष पृ० १५७

१६७ 'भस्ता' पालि इंग्लिश डिक्शनरी

१६८. दीघनिकाय, २, ८८ मिलिन्द पन्ह, ३३१, जातक ३, २८१

१६६ जातक, ३, २८१ के आगे ५, ४५

२०० बोस, उपर्युक्त, पृ० २३६

२०१ अर्थशास्त्र २.१८

२०२ धम्मपद, २३ ३० जातक, ६.६६

२०३ अगुत्तर निकाय, १.८१ मिलिन्दपन्ह, ३. १०२

२०४. सुतनिपात ६६२, धम्मपद ५. २३६

२०५ अर्थशास्त्र, २.१२ आगे

२०६. अर्थशास्त्र ४.१

२०७ रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाए पृ० १४३
२०८ स्ट्रेवो, १५.६.६६
२०९ आर्क्योलाजिकल सर्वेरिपोर्ट, १६ पृ० ११३
२१० पेरिप्लस पृ० ६७
२११ शाल शब्द के अन्तर्गत मोनियर विलियम्स सं० इ० दि०
२१२ महावग्ग, १.५६, ३.६६ धम्मपद ८०
२१३ जातक, २, १८
२१४ जातक, ४, १५६
२१५ जातक, ४, २०७
२१६ जातक, ६, ३३५, २, १८१, ३ १६०, ५ १५६, १०, १४४
२१७ कल्पसूत्र, १००, गोशीर्ष, लाल चन्दन, दर्दर से बने तीन किस्मों की चर्चा हैं। अपरच अर्थशास्त्र २.११ में भी इत्र का उल्लेख आता हैं।
२१८ जातक, ६, ३३६
२१९ दीघनिकाय, २.८८
अर्थशास्त्र, २.२
जातक, १. ३२० से आगे
२२० वैदिक एज, पृ० १३ खरल, मूसल एव चक्की बनाए जाने का पता चलता है।
२२१ चुल्लवग्ग ५.१७.२ रूद्रदामन का जूनागढ अभि०
२२२ बैंक, बीड्स फ्रास तक्षशिला, आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डियन मैमोइर स० ६५ पृ० २८
२२३. जी० एल० आध्या अर्ली इण्डियन इकनामिक्स
२२४ रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाए, पृ० १३६, ३७, ३८, ३६, ४०, ४२
२२५ महावग्ग १, ३०, ४
२२६ दीघ निकाय १ १ १५, १७ २ ५ महावग्ग ५ १० १३
२२७ चीवर रवन्धक, महावग्ग, पृ० २६८-३११
२२८. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाए पृ० १८०
२२९ अष्टाध्यायी, ३.४.१४१।
२३०. हेरोडोटस, ३.१०६।
२३१. अर्थशास्त्र, २.११।
२३२. अष्टाध्यायी, ३.३.५४; ४.२.११; ६.२.४२।
२३३. अर्थशास्त्र, २.११।
२३४. जातक,४,३५२।
२३५. मनुस्मृति- ५.१२०।
२३६. अष्टाध्यायी, ६.३.४२।
२३७ महावग्ग, ८.१.३.६।
२३८ अर्थशास्त्र, २.११।
२३९ आचारागसूत्र, २.५.१.१, मनुस्मृति. २ ४१।
२४०. चीवर खन्धक, महावग्ग, २६८-३११।
२४१ अर्थशास्त्र, २.२३।
२४२ दीघ निकाय, २.१४, मज्झिम निकाय, १.३८५।
२४३. अर्थशास्त्र, ४.१।
२४४ इरविन, इण्डियन टेम्सटाइल इन हिस्टोरिकल पर्सपेक्टिव, पृ० २५-२६
२४५. जातक २.२६७; ४.३२४।
२४६ जातक २.२६७. ४.३२४।
२४७. जातक ६.४२७।
२४८ स्ट्रेवो १५.१.३७।

२४६ मनु. ४ २४।
२५० मज्झिम निकाय, ३ ५४१।
२५१ जी० एस० पी० मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थ व्यवस्था पृ० १६६।
२५२ मजूमदार आर० सी०, कार्पोरेट लाइफ इन ऐन्श्सेण्ट इण्डिया पृ० १७।
२५३ अर्थशास्त्र, ५ २. (एकेन शिल्पेन पण्येन वा ये जीवन्ति तेषा समूह श्रेणी) अष्टाध्यायी २ १ ५६ श्रेणय कृतादिभि ।
२५४ जातक, जि० ४ पृ० ४११।
२५५ जातक, जि० ६, स० ५४६, पृ० ४२७।
२५६ राइजडेविड्स, 'बुद्धिष्ट इण्डिया' पृ० ५७-६० मजूमदार ने भी एक सूची प्रस्तुत की है। द्र० कारपोरेट लाइफ इन ऐन्श्येण्ट इण्डिया, पृ० १८
२५७ गौतम धर्मसूत्र, १५ १६ १८, आपस्तम्व,१ १८ १६-१७,
२५८ आर० के० मुखर्जी, लोकल गवर्नमेंट इन ऐन्श्येण्ट इण्डिया पृ० ३१-३३।
२५६ याज्ञवल्क्य, २ ३० मिताक्षरा, पूगा वर्ग समूहा भिन्न जातीना भिन्न वृत्तीनामेक स्थान निवासिना यथा ग्राम नगरादय ।
२६० चुल्लवग्ग, ५.८.६ १ ४।
महावग्ग, १.७.१।
२६१. जातक, जि० २१, पृ०, १८।
जी० एस० पी० मिश्र, प्राचीन भारतीय सामाज एव अर्थव्यवस्था पृ० २००।
२६२ जयशकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ६६३।
२६३. वही।
२६४ याज्ञवल्क्य २ १८७-१६०।
२६५ जयशकर मिश्र पूर्वोक्त, पृ० ६६४।
२६६ बृहस्पति, १७.११-१२।
२६७. वीरमित्रोदय, ४२३।
२६८. जातक, २ १२, ४,१३६।
२६६ विनय टेक्स्ट्स, ४.२२६।
२७०. द्र० जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, १६०१ में श्रीमती राइज डेविडस का लेख, पृ० ८६५।
२७१. अर्थशास्त्र, पृ० ३२७. ३६१।
२७२ वही पृ० ३७१।
२७३. फिक, द सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ इस्ट इण्डिया इन बुद्धाज टाइम पृ० २७६. अपरच श्रीमती राइज डेविड्स, पूर्वोक्त, पृ० ८६६।
२७४. मजूमदार कार्पोरेट लाइफ इन ऐन्श्येण्ट इण्डिया पृ० ८०
जे० सी० जैन लाइफ इन ऐन्श्येण्ट इण्डिया एज डिपिक्टेड, इन जैन कैनन्स पृ० ११०।
२७५. उवासगदसाओ, ७.१८४।
२७६. जातक ३.२८१।
२७७. जातक, ३.२८१।
२७८. जातक, ३.४०५।
२७६. रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ० १४८।
२८० पाराजिक, पृ० ७७।
२८१. अर्थशास्त्र, पृ० १२१।
२८२ अर्थशास्त्र, पृ० ६५।
२८३ आचारांग सूत्र, जैन सूत्राज भाग १ पृ० १४७।
अपरच, जातक. ४ ४३०।
२८४. महावग्ग, पृ० ८-६।
२८५. जातक १.३२०

२८६ थेरीगाथा, २४, जातक, ४.४४५, ३.४६,६ ६८, चुल्लवग्ग, १० १०४ ४, विनय पिटक, ८ २५०।

२८७ अष्टाध्यायी, ६.२ १००-१०१, ३ ३ ५२, ६ २ १३, ४.४ १३।

२८८ जयशकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ६२२।

२८६ अष्टाध्यायी, ४ ४ १३ (वस्नेन जीवति)।

२६० अष्टाध्यायी, ६.२ १३ (अश्ववाणिज गोवाणिज)।

२६१ वही, ६.२ १३।

२६२ वही, ३.३.११६।

२६३ मिश्र जी० एस० पी०, प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था पृ० २०६।

२६४ अगुत्तर निकाय ३ २०८, भद्रजन एव कुलीन वर्ग इन व्यवसायों से दूर ही रहता था अत इनके सामने इनका क्रय विक्रय प्रचलन में नही था।

२६५. जातक, १.१०६, ४.२।

२६६ जातक, १.१२४,थेरीगाथा, २५.२१२।

२६७. अर्थशास्त्र ,२.१६.।

२६८ जयशंकर मिश्र, पूर्वोक्त, पृ० ६२६।

२६६. अर्थशास्त्र, २.२१।

३००. जयशंकर मिश्र, पूर्वोक्त, ६२७।

३०१. अर्थशास्त्र, ४.२।

३०२. अर्थशास्त्र, ४.२।

३०३. अर्थशास्त्र, ४.२।

३०४ वही।

३०५ बावेरूजातक ३३६।

३०६. द्र० अवदानशतक, ३, दिव्यावदान, ३।
अपरच, पडरजातक, ५१८, ५०० यात्रियों के समुद्री यात्रा के दौरान डूब जानें की चर्चा हैं।

३०७. महाजन जातक, २३६।

३०८. जयशंकर मिश्र, पूर्वोक्त, ६३६।

३०६. सुप्पारक जातक ४६३;महावणिज जातक, २२१, समुद्दवणिज जातक, ४६६, दीघनिकाय, १-२२२

३१०. प्लिनी, ६.२१. अपरंच, जातक ४.१५६,एक हजार यात्रियों की क्षमता वाला जहाज, जातक, ६,३०, सात काफिले एक साथ जा सकते थे।

३११ स्ट्रैबो १५.१.४६।

३१२. अर्थशास्त्र २.२८।

३१३. जातक ३.२६७, दीघनिकाय, ११.८५, अंगुत्तर निकाय, ३.३६७ प्लिनी, ६.२२।

३१४. दीघ निकाय २.२३५

३१५. जातक, ३, ४७०

३१६ जी.एस.पी. मिश्र प्राचीन भारतीय समाज एव अर्थव्यवस्था, पृ० २०४

३१७ अर्थ शास्त्र २, २८
नावाध्यक्ष. समुद्रसंयान॰।।

३१८ अर्थशास्त्र = २.१, ४७

३१६ मनुस्मृति- ८, ३६६

३२० पाराजिक, पृ० ५८-५६।

३२१. द्र० वी० सी० ला, एनल्स आफ दि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, (के० वी० पाठक कम्मेमोरेशन वाल्यूम) १६३४, पृ० ७१।

३२२ दीघनिकाय, पा० टे० सी १.७१-२।

३२३. मज्झिमनिकाय, २.११६।

३२४. अंगुत्तर निकाय, २ ६६।

३२५. भागचन्द्र जैन, बौद्ध संस्कृति का इतिहास नागपुर १६७२, पृ० २५४।

३२६. गौतम १० ६, वशिष्ठ, १०,४४-४८, मनु ८ १४४।

३२७ महावग्ग, पृ० ७६।

३२८ वशिष्ठ, २,४१ के आगे, बौधायन, १ ५ १० २३-२५।

३२६ पाराजिक पृ० ६।

३३०. अर्थशास्त्र, पृ० १११।

३३१. महावग्ग. पृ० २५५।

३३२ अर्थशास्त्र पृ० ११६।

३३३ द्र० राहुल साकृत्यायन, विनयपिटक पालि विनय का हिन्दी अनुवाद पृ० २४७, टिप्पणी।

३३४ जी० एस० जी० मिश्र, दि एज आफ विनय, पृ० २६६।

३३५ प्राणनाथ, एस्टडी आफ दि इकानामिक कन्डीशन इन ऐन्श्येण्ट इण्डिया, पृ० ७८-७६।

पंचम अध्याय

प्रतिरोध प्रभाव एवं स्वीकरण

(अधीत काल का परवर्ती युग)

पंचम अध्याय

"प्रतिरोध, प्रभाव एवं स्वीकरण"

(अधीत काल का परवर्तीयुग)

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के इस पॉचवें और अन्तिम अध्याय में आलोच्य कालावधि की उन तमाम विशिष्टताओं की समीक्षा का एक विनम्र प्रयास किया है जिसके चलते यह विमर्श्य बन बैठी। अपने आने वाले समय को यह किस रूप में प्रभावित करती हैं, इस विशिष्ट कालावधि में जो हुआ वह क्यों हुआ, क्या वह इसी रूप में होने को अभिशप्त था या कोई और भी विकल्प था। ऐसे ही तमाम सवालात हैं जो हमेशा कौंधते रहते हैं। उन सब पर यथासम्भव विचार करने का प्रयास किया गया है। एक शोधार्थी के रूप में मुझे ऐसा लगता है कि इसके बाद का काल सामाजिक सन्दर्भों में इसके प्रतिरोध का, तो आर्थिक क्षेत्रों में लगभग इसके स्वीकरण एवं सातत्य का काल रहा।

वस्तुतः बौद्ध धर्म तथा ब्राह्मणवाद के मध्य संघर्ष भारतीय इतिहास की एक सच्चाई है।[1] मौर्य साम्राज्य के पतन और ब्राह्मणों के राज्यारोहण को ब्राह्मण प्रतिक्रिया स्वरूप देखा जाता है।[2] यह सामाजिक और धार्मिक प्रतिक्रिया की राजनैतिक अभिव्यक्ति थी। यह सही है कि वर्णभेद और जातिभेद की व्यवस्था पर निर्णायक चोट तो बौद्ध और जैन आन्दोलन भी नहीं कर पाए परन्तु जन्म आधारित श्रेष्ठता पर सतत् सवाल खड़े करते रहे।[3] जाहिर है कि इससे सर्वाधिक असुविधा ब्राह्मणों को ही हुई। मनुस्मृति को इस युग की रचना माना जा सकता है।[4] इस ग्रन्थ मे ब्राह्मणों की उत्कृष्टता का उत्कट् निदर्शन है।[5] बौद्धों के द्वारा की गई क्षतिपूर्ति के निमित्त ब्राह्मणों को अपनी विशिष्टताओं को बनाए रखने हेतु कुछ अतिरिक्त प्रयास भी करने पड़े जिसके तहत् काफी कठोर आचार संहिता का प्रतिपादन हुआ।[6] यह कुपित नियमन था एवं स्वाभाविक रूप से इसकी गाज शूद्रों एवं वैश्यों पर ही गिरनी थी। अपने विशिष्ट ज्ञान के आधार पर इन्हीं का सर्वाधिक शोषण करते थे तो अब और अधिक विशिष्टता के तर्क पर अधिक शोषण होने लगा। बुद्ध के विचार-प्रचार और अशोक के सदाशयी क्रियान्वयन से निम्नवर्णो की बेहतरी की जो कुछ भी थोड़ी सी आस बँधी थी, उसे सिरे से खारिज कर दिया गया।

अशोक की धारणा थी कि धर्म के प्रचार से मानव देवताओं से मिलेगे।[७] इसी धारणा के तहत धर्म महामात्रों ने जनजातीय लोगों के बीच धर्म का प्रचार भी किया। जो धर्म प्रचारित हुआ रहा होगा, शरीर उसका जो भी रहा हो, आत्मा बौद्ध धर्म ही रहा होगा, जिससे प्रभावित होकर विशाल जनजातीय समुदाय सभ्य समाज की ओर प्रस्थान करता है। खाद्य संग्राहक न रह कर करद कृषक बनता है। यह उत्संस्करण की सुविचारित नीति थी।[८] यानि धन और जन पर सुनियोजित कब्जा। इस तरह अशोक के राजनैतिक प्रभामण्डल के तले बौद्धों की सुविचारित नीति का यह सूत्रपात था कि अधिकाधिक लोग भेदभाव रहित धर्म भी स्वीकार करें और राजस्व भी दें ताकि राजनैतिक शक्ति भी बढे।

परन्तु इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप ही ब्राह्मण समाज शकों एवं यवनों को अपने में समाहित करता है। वे उत्कृष्ट योद्धा थे और विजेता थे। इस आधार पर उनकी सामाजिक और राजनैतिक हैसियत थी। वैसे इस म्लेच्छ वर्ग का स्वाभाविक सम्मिलन तो बौद्धों के साथ होना चाहिए था क्योंकि वहॉ तो जाति-वर्ण, ऊँच-नीच जन्म-कर्म का कोई विचार ही नहीं था। परन्तु ब्राह्मण धर्म झटपट इन्हें क्षत्रिय वर्ण में शामिल कर लेता है। यहाँ उनके जन्म-कर्म का कोई विचार नहीं किया जाता। तर्क यह है कि विदेशी जातियाँ मूलतः क्षत्रिय हैं। मनुमहाराज की व्यवस्था है द्रविण, कम्बोज, यवन, शक, पहलव और खस जातियॉ क्षत्रिय ही थी जो क्रियालोप से एवं ब्राह्मणों के सम्पर्क में न रहने के कारण शूद्रत्व को प्राप्त हुई।[९] परन्तु पुनश्च सम्पर्क में आने के कारण उनका क्षत्रियत्व वापस लौटा हुआ माना गया एवं उन्हें क्षत्रिय वर्ण में स्थान दिया गया। पतंजलि ने भी शकों को विदेशी होने के बाद भी अस्पृश्य नहीं माना है।[१०] महाभारत के अनुशासन पर्व में वर्णित है कि युद्ध कर्म करना विदेशी जातियों का मूल कर्म था। अतः उन्हें क्षत्रिय वर्ण में स्थान दिया गया।[११] यहां एक स्वाभाविक जिज्ञासा सप्रश्न होती है कि यदि युद्ध कर्म ही क्षत्रियत्व का आधार था तो महान् धनुर्धारी कर्ण जीवन पर्यन्त सूत-पूत्र क्यों और किस आधार पर बना रहा?

विदेशी जातियों के प्रति यह सदाशयी लचीलापन कहीं आन्तरिक चुनौतियों एवं प्रतिरोधों के परिशमन हेतु बाहरी समर्थन की आवश्यकता के तहत तो नहीं था?

तत्कालीन समाज में इसका बड़ा असर देखा गया क्योंकि काफी बडी आबादी स्त्री-पुरुष श्रमण जीवन की ओर आकर्षित हुई। यह पहले से चले आ रहे ब्राह्मण धर्म की आश्रम व्यवस्था के सिद्धान्तों के प्रतिकूल बैठता था।

बहुत संभव है कि उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप मनु ने सुव्यवस्थित गृहस्थ जीवन पर बल दिया हो। उन्होंने प्रतिपादित किया कि गृहस्थ रहते हुए ही मनुष्य धर्म और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का सम्यक् निर्वहन कर सकता है। अत. गृहस्थ आश्रम ही सर्वश्रेष्ठ है।[१२] अन्यत्र भी गृहस्थाश्रम की महत्ता के प्रतिपादक साक्ष्य पाये जाते हैं।[१३] संन्यास को पापिष्ठा कहा गया है।[१४]

ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धों के भिक्षु जीवन के प्रति इस युग में एक नकार का भाव स्वतः ही प्रतिक्रिया का रूप लेकर उभरता है। एक तो पहले से ही ब्राह्मण सन्यासियों की अच्छी-खासी जमात थी। उसपर जैन एव बौद्ध भिक्षुओं की बाढ़ तो वास्तव में एक बोझ थी। इसी से सन्दर्भित एक अन्य रोचक तथ्य विमर्श्य हो जाता है कि क्यों तत्कालीन सभी ग्रन्थ चाहे बौद्ध चाहे जैन चाहे ब्राह्मण निरपवाद रूप से दान के सद्गुणों का बखान करते नहीं अघाते।[१५] यह परजीवी जमात के पालन पोषण का सुनियोजित अभियान था, जिसमें आश्चर्य जनक रूप से सभी धर्म सम्प्रदायों में आपसी एका के दर्शन होते हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के लिए चयनित काल विशेष में प्राचीन भारतीय इतिहास एवं समाज की आधार शिला वर्ण व्यवस्था के विकास एवं स्वरूप को लेकर भी कुछ प्रश्न उठ खड़े हुए हैं।

प्रो० शर्मा ने अपने वैदुष्य विवेचन में इस व्यवस्था के बारे में जो अभिमत दिया है वह ज्यादा सुसंगत प्रतीत होता है। वे किसानों, कारीगरों भाड़े के मजदूरों और खेतिहर गुलामों के द्वारा उत्पन्न सामाजिक अधिशेष के उपभोग के निमित्त वर्णव्यवस्था को आविष्कृत हुआ पाते हैं।[१६]

ऋग्वैदिक, उत्तर वैदिक और वैदिकोत्तर यानि आलोच्य कालावधि की और क्रमिक विकास के क्रम में अर्थव्यवस्था विकसित होती है। निर्वाह की अर्थव्यवस्था जैसे-जैसे अधिशेष और उपभोग की अर्थव्यवस्था की ओर प्रयाण करती है। वर्ण व्यवस्था उतनी ही अनुदार,

संकीर्ण और जटिल होती गई। दस्तकारी और कृषि में लौह तकनीक के प्रयोग से किसान भरण-पोषण से अतिरिक्त भी पैदा करने लगा। दस्तकारी में विकास ने किसानों को बेहतर औजार तो उपलब्ध कराए ही, उच्च सामाजिक तबके के लिए भोग-विलास के अवयव भी उपलब्ध कराए। यही पर ब्राह्मण विचारकों ने एक सर्वथा नवीन सामाजिक तंत्र की नींव डाली, ताकि आलोच्य कालावधि में आर्थिक प्रगति, विकास एवं विस्तार का फल मजदूरों एवं कृषकों को न मिल कर राजाओं और पुरोहितों को मिले।[१७] इस अद्‌भुत समाजिक तंत्र, व्यवस्था और संगठन को वर्णव्यवस्था कहा गया। यह जन्मगत आधारों पर लोगों को स्तरीकृत करने का स्वेच्छात्मक प्रयास था,[१८] न कि दैवी विधान। यह ऐसी व्यवस्था थी जिसमें मूल उत्पादन कर्ता निम्नतम पायदान पर रहे और अधिशेष के व्यवस्थापक, वितरक एवं उपभोक्ता सामाजिक संगठन के शीर्ष पर विराजमान हुए। वैश्य-शूद्र श्रम पर आधारित इस सामाजिक संरचना में ब्राह्मण और क्षत्रिय किसानों और कारीगरों द्वारा दिए गए श्रम एवं धन पर आराम की जिन्दगी जीते थे। चूंकि बौद्ध एवं जैन विचार धाराओं के 'प्रचार-प्रसार' या उस व्यवस्था के पोषकों की भाषा में कहें तो 'उकसावे' के कारण कभी-कभी इस व्यवस्था के गहरे संकट में पड़ जाने की संभावना भी सताती रही होगी। अतः यह व्यवस्था निर्वाध चलती रहे, इसके लिए पुनर्जन्म सिद्धान्त की व्यूह रचना की गई। गौतम धर्म सूत्र में गौतम ने यह प्रतिपादन किया है कि 'अनेक जातियों तथा श्रेणियों के लोग, जो सदा अपना कर्तव्य पालन करते हुए जीवन यापन करते हैं, वे मृत्यु के उपरान्त अपने सत्कर्मों का फल भोगते हैं और अपने पुण्य के अवशिष्ट भाग के प्रताप से ऐसे श्रेष्ठ देशों, जातियों तथा परिवारों में जन्म लेते हैं, जो सुन्दरता, दीर्घ जीवन, वेदज्ञान, सदाचरण, धन, सुख तथा बुद्धिमत्ता से युक्त होते है। जो इसके विपरीत कार्य करते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं और पुनः विभिन्न निम्न स्थितियों में जन्म लेते है।[१९] आपस्तम्ब की व्यवस्था कुछ और आगे की है कि नीची जातियों के लोग यदि अपने विहित कर्तव्यों का पालन करते हैं, निष्ठापूर्वक पालन करते हैं तो अगले जन्मों में उच्च जातियों में जन्म लेते हैं।[२०] मनु ने व्यवस्था दी है कि वैश्य और शूद्र अपने निर्धारित कर्मा से विच्युत न हो, नहीं तो भारी दुर्व्यवस्था फल जाएगी।[२१] उनके विहित कर्तव्यों को हम पिछले अध्याय में रेखांकित कर चुके हैं[२२] और चूंकि यह उनके पिछले जन्मों का कर्मफल है इसलिए कुड़बुड़ाने का कोई कारण नहीं यदि कारण हो भी तो कोई औचित्य नहीं क्योंकि इस

क्या इसलिए कि उच्चवर्णों की स्त्रियों को, चूंकि कोई आर्थिक स्वायत्तता नहीं हासिल थी, क्योंकि वे उत्पादन कार्यों से विलग ही रहती थी, पुरुष या पति अपने हाथों की कठपुतली आसानी से बनाए रख सकता था। अपनी जीविका एवं भरण-पोषण के लिए उच्चवर्णी स्त्रियां अपने पतियों या पुरुषों पर ज्यादा आश्रित रहती थी, भले ही ऐश्वर्य पूर्ण जिन्दगी बिताती थी, परन्तु स्वतंत्रता का उपभोग कम ही कर पाती थीं।

इसके विपरीत निम्नवर्णी स्त्रियां अपने पतियों के साथ-साथ उत्पादन कार्यों में लगी हुई थी। इसलिए वे रंचमात्र ही सही आर्थिक स्वायत्तता का उपभोग करती थी और अपने परिवार, अपनी जाति में, कुछ हैसियत, अपने पति से इतर भी रखती थी। उसकी भी कुछ राय होती थी जिन्हें वह वैवाहिक मामलों में व्यक्त कर सकती थी। बौधायन का यह मत समीचीन जान पड़ता है कि वैश्यों एवं शूद्रों की पत्नियां कृषि और सेवा कार्य में लगी रहने के कारण नियंत्रण में नहीं रखी जा सकती।[२८] आर्यों के पुरुष वर्चस्व वाले समाज में इस तत्व को आर्येत्तर मान कर अनादृत किया गया रहा होगा। तो प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृत साहित्य में स्त्री समानता, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' और प्रेम विवाह के अनेक उद्धरण एवं दावे क्या सिरे से ही खोखले थे? तब तो यह निष्कर्षण भी स्वाभाविक प्रतीत होता है कि धर्मोचित सामाजिक व्यवस्था कायम रखने के नाम पर उच्चवर्णों की स्त्रियों को गुलामी की स्थितियों तक धकेल दिया गया। किसी की राय का कोई महत्व न हो, ठीक है, परन्तु उसकी राय किसी चीज को अनैतिक बना जाय यह तो अपमान की सीमा है।

विवाह के कुछ और पहलुओं पर भी गौर किया जाना चाहिए, मसलन 'तलाक' जिसकी सिर्फ अधर्म्य विवाह प्रकारों में अनुमति है। क्योंकि कौटिल्य प्रथम चार स्वीकृत विवाह प्रकारों में तलाक की अनुमति नहीं देते[२९] यानि निजात की कोई सूरत भी नहीं छोड़ते।

पुनर्विवाह, नियोग एवं स्त्रियों के लिए पति की प्रतीक्षावधि का निर्धारण बड़ा रोचक है एवं इतिहास के कुछ प्रच्छन्न पहलुओं को अनावृत्त भी करता है। विदेश गमन, व्यापारिक यात्राओं के चलते या किन्हीं कारणों से पति की प्रतिज्ञानुसार तय अवधि में नहीं लौट पाने की स्थिति यानि लम्बी अनुपस्थिति में कौटिल्य ने ब्राह्मण की पत्नी को चार वर्षों तक, क्षत्रिय की तीन वर्षों तक, वैश्य की पत्नी को दो वर्षों तक तथा शूद्र-पत्नी को एक वर्ष तक की प्रतीक्षावधि निर्धारित की है। पत्नी के बच्चे हों तो समय के अन्तर बनाए रखते हुए

प्रतीक्षावधि बढ़ जाती है।[10] धर्मशास्त्रों में भी कमोवेश प्रतीक्षावधि को लेकर यही व्यवस्था विहित है। परवर्त्ती स्मृतिकारों ने सभी वर्णों के लिए प्रतीक्षा की अवधि को और बढ़ा दिया है नारद ने शूद्र स्त्री के लिए तो प्रतीक्षा की कोई अवधि ही नहीं रखी है।[11]

वैदिक अध्ययन के निमित्त लम्बी यात्रा पर गये ब्राह्मण की पत्नी के लिए गौतम ने बारह वर्षों तक सहवास वर्जित बताया है।[12] ऐसी स्थिति में कौटिल्य ने बच्चे वाली ब्राह्मणी के लिए बारह वर्षों का समय तो निःसन्तान ब्राह्मणी के लिए दस वर्षों का समय अभिहित किया है।[13]

उपरोक्त स्थितियों के मद्देनजर प्रो० शर्मा ने दो विशिष्टताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है।[14] पहली यह कि प्रारम्भिक धर्म शास्त्रों में विभिन्न वर्णों के लिए प्रतीक्षावधि परवर्ती स्मृतिकारों की अपेक्षा कम है और दूसरी निम्न वर्णों की स्त्रियों/पत्नियों के लिए प्रतीक्षा की समयावधि उच्चवर्णों की अपेक्षा हर काल में अपेक्षाकृत कम है तथा विवाह विच्छेद भी इनमें अपेक्षाकृत आसान था।

उनके पहले निष्कर्षण की तर्कसंगत व्याख्या समाज में जनजातीय अवशेषों के प्रतीकों के रूप में की जा सकती है, क्योंकि जनजातीय विशिष्टताओं के अवशेषों के बचे रहने के कारण ही समाज में परिजनों की वृद्धि काम्य प्रतीत होती है। इसीलिए पति की प्रतीक्षावधि कम रखी गई ताकि किसी भी तरह समागम से जन शक्ति बढ़े।

परन्तु कालान्तर मे वर्ण आधारित समाज जब विकसित होता है और विविध बौद्धिक व्यायामों से वैश्य -शूद्रावलम्बी व्यवस्था में धन और श्रम का उपभोग सुविधाभोगी वर्गों द्वारा यानि प्रथम दो वर्णों के सदस्यों द्वारा होने लगता है तो ऐसी व्यवस्था की जाती है कि सुविधाभोगी वर्ग कम बढ़े और सुविधाएं, प्रकारान्तर से सुविधाएं मुहैया कराने वाले, अधिक बढ़े।

इसीलिए निचले वर्णो के लिए प्रतीक्षा की अवधि कम रखी गई ताकि उनके बीच स्वतंत्र समागम के अवसर ज्यादा बढ़े ताकि सुविधाएं मुहैया कराने वाले लोग ज्यादा बढ़े शूद्रों की पत्नियों को अगर बारह वर्ष प्रतीक्षा करवाई जाय तो फिर काम करने वाले हाथ कम पड़ जाएंगे। अतः उच्च वर्णों में नियोग एवं पुनर्विवाह की व्यवस्था को भी हतोत्साहित किया

गया।[३५] परन्तु शूद्रों के लिए इसकी अनुमति दी गई।[३६] उच्चवर्णों में विधवा विवाह को या नियोग प्रथा को मान्यता देने का मतलब था सुविधा भोगी वर्ग की संख्या में वृद्धि और शूद्रों के लिए इस अभिहित करने का तात्पर्य था सुविधाओं में वृद्धि के अवसरों का खुलना। समान वर्ण में विवाह[३७] पर भी इसीलिए बल दिया गया कि ऊपरी वर्णों का निम्न वर्णों से सम्पर्क न बनने पाए[३८] एक सुविधाजनक दूरी बने रहे और अगर अन्तवर्णी विवाह हो भी तो प्रथम दो वर्णो का आपस में ही हो।[३९]

यह बड़ा रोचक प्रतीत होता है कि विवाह नामक सस्था का भी सुविधाभोगी उच्च वर्णो या कहे ब्राह्मण धर्म के व्यवस्थाकारों ने अपने हित-पोषण में किस चालाकी से इस्तेमाल किया। वस्तुतः यह मानसिकता भारतीय रेल यात्रियों की मानसिकता है कि हम तो घुस ही गए अब और कोई न घुसने पाए। हर नया यात्री पहले से जमें लोगों की जगह तंग करता हुआ प्रतीत होता है। वह यह भूल जाता है कि अभी पिछले स्टेशन पर वह स्वयं कितनी मुश्किलों से चढ़ा था। इसी तरह इस ब्राह्मणवादी व्यवस्था में सुविधाभोगी वर्ग सीमित संख्या चाहता है, क्योंकि हर नया व्यक्ति उसे अपनी सुविधाओं में सेंध लगाता और हिस्सा हड़पता नजर आता है। इसीलिए ब्राह्मणों क्षत्रियों की पत्नियों के लिए पति की प्रतीक्षा की अवधि अधिक रखी गई और वैश्यों और शूद्रों की अत्यल्प। शूद्रों की तो कभी-कभी नहीं ही, ताकि कम से कम सुविधा भोगी अधिक से अधिक सुविधाओं को, भोग सकें।

आलोच्य कालावधि में शिक्षा की दशा और दिशा, उसके स्वरूप एवं क्रियान्वयन तथा उसके नियामकों की मंशा की पड़ताल भी वाजिब ही होगा। हिन्दू समाज के व्यवस्थाकारों ने प्रायः एकजुट होकर संस्कारों की संख्या सोलह बताई है।[४०] इनमें से एक प्रमुख सस्कार'उपनयन' भी था, जिसका सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के बौद्धिक उत्कर्ष से है।[४१] परन्तु यह 'शूद्र' को छोड़ कर तीनों वर्णों के लिए था जिन्हें 'द्विज' भी कहा जाता था। वस्तुतः यह संस्कार सिर्फ द्विजों के लिए था शूद्रों के लिए नहीं।[४२] अर्थात् जिस संस्कार का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के 'बौद्धिक उत्कर्ष' से था, उससे शूद्रों को वंचित रखा गया क्यों?

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में शूद्र को उपनयन और वेदाध्ययन से वंचित रखा गया है।[४३]

वैसे तो किसी भी शूद्र परन्तु विशेषतः चाण्डाल की उपस्थिति मात्र से वैदिक पाठ बन्द कर दिए जाते थे।[४४] कोई भी शूद्र न तो वैदिक मन्त्रों का श्रवण कर सकता था और न ही उनका उच्चारण क्योंकि गौतम ने ऐसी व्यवस्था दी है कि वैदिक मन्त्रों को सुनने वाले शूद्र के कान में टीन या लाख का गला हुआ गरम पदार्थ डाल देना चाहिए, वैदिक ऋचाओं का पाठ करने पर शूद्र की जिह्वा काट ली जानी चाहिए परन्तु यदि उसे वे मन्त्र याद रह गए हों तो उसके शरीर के टुकड़े कर दिए जाय।[४५] वशिष्ठ ने भी शूद्रों को धर्म सम्बन्धी कोई ज्ञान रखने के सर्वथा अयोग्य घोषित किया है।[४६] मनुस्मृति में भी शूद्र के आस-पास वेद पाठ निषिद्ध बताया गया है।[४७]

आज की भाषा में कहें तो यह सारी की सारी कवायद सिर्फ इसलिए थी कि उस विशिष्ट ज्ञान से शूद्रों को वंचित रखा जाय जिसके आधार पर यह शोषण तंत्र चल रहा है। उन्हें इस खेल के नियम ही न पता चले, क्या पता, कभी वे भी खेलने लगे। आधुनिक सन्दर्भों से जोड़कर इसे देखें तो यह 'ज्ञान का पेटेन्टीकरण' था जिसके आधार पर ब्राह्मण अपनी विशिष्टता बनाए रखना चाहते थे।

खैर ये तो वे लोग थे जिन्हें शिक्षा दी ही नहीं जाती थी परन्तु जिन्हें दी जाती थी उनके चयन का आधार ऋग्वैदिक युग में भले ही उसकी ज्ञान पिपासा, जिज्ञासा एवं उसकी वृत्ति रही हो[४८] परन्तु आलोच्य कालावधि के समाप्त होते-होते शिष्य की आर्थिक स्थिति उसके चयन के लिए आवश्यक योग्यता में परिगणित हो गई।[४९] तुलसी दास की पंक्तियां उतनी पहले भी कितनी समीचीन जान पड़ती है 'हरई शिष्य धन शोक न हरई' यानि शिष्य की चिन्ता उसका शोक उसकी ज्ञान पिपासा शान्त करना गुरू उद्देश्य नहीं रहा अपितु येन केन प्रकारेण धन हरण प्रधान लक्ष्य बन गया।

शरीरिक श्रम के प्रति घृणा का भाव अधीत काल की एक और विशेषता है जो कुछ अतिरिक्त विश्लेषण की मांग करती है। गौतम की व्यवस्था है कि यदि कोई आर्य किसी आर्येत्तर (यानि शूद्र) व्यवसाय के आधार पर जीवन यापन करता है तो वह भी उसी स्थिति को प्राप्त होता है।[५०] बैधायन का मत है कि जो ब्राह्मण शिल्पी, अभिनेता या सूदखोर हो, व्यापार और पशुपालन से जीविका चलाए उसके साथ शूद्र जैसा बर्ताव हो।[५१] तात्पर्य यह कि

शारीरिक श्रम से जीविकोपार्जन ब्राह्मण से उसका ब्राह्मणत्व छीन लेता है और वह शूद्रवत समझा जाता है। प्रो० शर्मा की स्थापना उचित ही प्रतीत होती है कि धीरे-धीरे शारीरिक श्रम के प्रति उच्चवर्णी लोगों की घृणा इतनी बढ़ गई कि वे दस्तकारी से घृणा करने लगे और कुछ दस्तकारों को तो अछूत ही समझा जाने लगा[५२] जैसे रथकार, जिसकी चर्चा अस्पृश्यता के सन्दर्भ में पिछले अध्याय में की जा चुकी है। अस्पृश्यता की भावना शारीरिक श्रम के प्रति घृणा का विस्फोट है।

महात्मा बुद्ध का आविर्भाव, उनके विचार, उनका प्रचार-प्रसार, जहां तक मेरी समझ है, बहुत निर्णायक सिद्ध हुआ। उन्होंने समाज को अर्थव्यवस्था की मांग के अनुरूप ढाला तो अर्थव्यवस्था को भी समाज को गतिशील एवं प्रगतिशील चरित्र देने में मौलिक उपकरण के तौर पर इस्तेमाल किया। प्रो० शर्मा के कथन से एक बार फिर मेरी सहमति बनती प्रतीत होती है कि 'बौद्धधर्म को लौहकाल के द्वितीय चरण द्वारा निर्मित भौतिक वातावरण के उत्पाद के रूप में देखा जा सकता है'।[५३]

बौद्ध धर्म की कुछ मान्यताएं ऐसी थी जो बदलती परिस्थितियों के सर्वथा अनुकूल थी या कहें कि स्थितियों को बदलाव के लिए उत्प्रेरित कर रही थी। अब जैसे व्यापार वाणिज्य से सम्बन्धित गतिविधियों को ही लें तो ब्राह्मण दृष्टिकोण बहुत उत्साह प्रदर्शित नहीं करता। ऋग्वेद में ही हम 'पणि' लोगों का उल्लेख पाते हैं।[५४] जिन्हें तमाम मत मतान्तरों के बावजूद व्यापारी ही मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है[५५] और कई जगह इनकी निकृष्टतम निन्दा करते हुए इन्हें कंजूस, अयज्ञीय, एवं दस्यु बताया गया है।[५६] स्पष्ट है कि आलोच्य कालावधि से पहले भी व्यापार के प्रति कोई उदार रवैया नहीं था परन्तु आलोच्य कालावधि में भी हम धर्म सूत्रों की व्यवस्था पर विचार करें तो व्यापार-वाणिज्य करने वालों को बहुत अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा का उपभोग करते हुए नहीं पाते हैं। एक तो यही कि इससे सम्बद्ध लोग 'वैश्य' तीसरी श्रेणी में आते थे। बौधायन अग और मगध के लोगों की निंदा समुद्र यात्रा, मदिरापान एव व्यापार कर्म में उनकी सलिप्तता के कारण करते है।[५७] समुद्र यात्रा जिसकी उपयोगिता व्यापार के लिए असंदिग्ध है, बौधायन उसे पाप कर्म के रूप निन्दित बताते हैं[५८] और प्रकारान्तर से व्यापार वाणिज्य को हतोत्साहित करते हैं।

इसके विपरीत बौद्ध शिक्षाओं में व्यापारी या दुकानदार की उन्नति के अनेक सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं, जैसे एक व्यापारी से अपेक्षा है कि वह दृष्टि, चातुर्य तथा विश्वास करने कराने में सक्षम हो।[५९] दृष्टि उसे किसी वस्तु पर लाभ आंकने की क्षमता देती है,[६०] चातुर्य उसे माल बेच देने की क्षमता देती है[६१] और समय पर ब्याज सहित ऋण की अदायगी उसकी साख को कायम रखती है।[६२] इन गुणों से युक्त व्यापारी धनवान एवं महान होता है। एक भिक्षु से भी इन गुणों को आत्मसात करने की अपेक्षा की गई है ताकि वह एक 'आदर्श' उपस्थित कर सके।[६३] एक व्यापारी से भिक्षु की तुलना अन्यत्र भी बड़ी रोचक बन पड़ी है कि जैसे एक दुकानदार अपने कर्तव्यों के प्रति लापरवाह होकर अवनति को प्राप्त होता है, उसी तरह भिक्षु भी अपने दैनन्दिन कर्मों से विमुख होकर अपनी अवस्था से च्युत हो जाता है।[६४]

एक तो व्यापारियों की उन्नति की कामना, उसके लिए नुस्खे तजबीज करना, अपने आप में व्यापार-वाणिज्य के समर्थन का साक्ष्य है, परन्तु उनके हर क्रिया कलाप को भिक्षुओं की आचार संहिता से जोड़ देना तो उसे एक पवित्र और उत्तमतम स्तरों पर स्थापित कर देना है जो ब्राह्मण दृष्टिकोण से तुलना करने पर एक ध्रुव से दूसरे ध्रुव की यात्रा प्रतीत होती है।

ऋणों के लेन-देन को लेकर भी बौद्ध एवं ब्राह्मण दृष्टिकोण में अन्तर परिलक्षित होता है। बौद्ध दृष्टिकोण ऋणों के लेन-देन को प्रोत्साहित करता नजर आता है।[६५] प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के पिछले अध्याय में इसकी चर्चा विस्तार से की गई है।[६६] परन्तु ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने कोई प्रोत्साहन तो नहीं ही दिया उल्टे ऋण और ब्याज की व्यवस्था को कुछ हतोत्साहित ही किया।[६७] ऋण पर ब्याज की अत्यधिक ऊँची दरे शायद इस व्यवस्था के प्रति विरोध स्वरूप ही रखी गई थी।[६८] तात्पर्य यह कि ब्राह्मण विचारधारा एक बार फिर नवीन परिवर्तनों के साथ समायोजन नहीं बैठा पाती और प्रतिगामिता के पाले में बैठी दिखाई पड़ती है। वस्तुतः ऋण और ब्याज की व्यवस्था ने तो व्यापार और वाणिज्य को बढ़ावा ही दिया और बौद्ध शिक्षाओं ने इसे प्रोत्साहित किया। नवीन परिवर्तनों के अनुकूल माहौल बनाया।

आलोच्य कालावधि की एक और विशिष्टता 'नगरीकरण' भी ब्राह्मण विचारकों को रास नहीं आती है। आपस्तम्ब ने लिखा है कि 'उसे चाहिए कि नगरों में न जाए'।[६९]

बौधायन कुछ और कड़े शब्दों में विरोध करते हैं "जो धूल से भरे शहरो में निवास करता है, उसके लिए मोक्ष प्राप्ति असंभव है।"[७०] वस्तुतः धूल से भरे शहरो में निवास की मनाही पर्यावरणीय चिन्ता एवं तद्जन्य जागरूकता का परिणाम नही थी अपितु परम्परागत ब्राह्मणवादी विचार धारा को नगरीय जीवन से मिलने वाली चुनौतियों को सिरे से समाप्त कर देने को साजिश थी। नगरों का अभ्युदय कृषक समाज द्वारा संचालित भेदपरक ब्राह्मणवादी व्यवस्था पर एक करारी चोट की तरह था गांवों में बसने वाला कृषक समाज और उसकी मान्यताएं शहरों में निवास करने वालों के व्यापारिक औद्योगिक समाज की मान्यताओं से भिन्न तो होनी ही थी।

उच्चवर्णी लोगों के लिए आपस्तम्ब ने यह व्यवस्था दी है कि वे दुकानों में बना खाना न खांए।[७१] यह नियमन नगरों की आम विशेषता, भोजनालयों, के प्रति तिरष्कार का भाव दर्शाता है। शहर सबसे पहले बाजार होता है तो दुकानें तो रहेंगी ही। और जाहिर है, दुकानदार भी होंगे लेकिन इन सबके प्रति ब्राह्मण विचारधारा कुछ अनुदार प्रतीत होती है। जबकि बौद्ध विचारधारा दुकानदारों की उन्नति के लिए आचार सहिता सुझाती प्रतीत होती है।[७२]

वेश्यावृत्ति, जो नगरीय जीवन की ही उपज है, के प्रति भी ब्राह्मण व्यवस्थाकारों का दृष्टिकोण बड़ा कटु प्रतीत होता है। बौधायन[७३] किसी वेश्या द्वारा प्रदत्त भोजन गर्हित बताते हैं तो गौतम[७४] भी उनसे पूरी तरह सहमत प्रतीत होते हैं। परन्तु वेश्यावृत्ति आलोच्य कालावधि में नगर-जीवन का एक अपरिहार्य अंग थी, जैसा कि प्रमुख नगरों में गणिकाओं के अस्तित्व[७५] एवं उनकी सुरक्षा-संरक्षा के निमित्त राजकीय प्रयासों से अभिद्योतित होता है।[७६] इस सत्य को स्वीकार करता हुआ बौद्ध दृष्टिकोण ब्राह्मण विचारधारा के ठीक प्रतिकूल ठहरता है। आम्रपाली के यहां बुद्ध का निवास एवं भोजन ग्रहण एक ऐतिहासिक तथ्य है जो वेश्यावृत्ति के प्रति उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट कर जाता है। आवांछित तत्वों के संघ में प्रवेश को निषिद्ध ठहराते समय गणिकाओं को छोड़ दिया जाना,[७७] बौद्ध दृष्टिकोण का एक और सक्षम साक्षी है।

उपरोक्त विश्लेषण यह सिद्ध करता प्रतीत होता है कि ब्राह्मण विचारधारा नये युग के परिवर्तनों की हमकदम नहीं रही क्योंकि ये परिवर्तन उसकी अपनी मान्यताओं के प्रतिकूल जान पड़ते थे और थे भी। अब अर्थ एवं अर्थार्जन की प्रवृत्ति समाज को गढ़ रहे थे। शहरों में हर चीज बिकती थी चाहे वह स्त्री शरीर ही क्यों न हो। वहां वर्णगत भेद भुला दिए जाते थे। पैसा प्रमुख था। मदिरालय, भोजनालय, वेश्यालय इत्यादि ऐसी ही जगहें थी और ये सभी, नगर एवं नागरिक जीवन की सामान्य विशेषताए थी। बौद्ध विचारधारा वक्त की माग पहचानती है एवं परिवर्तनों के प्रति लचीला तथा नमनीय रुख अपना कर अपनी जड़ें तो जमाती ही है, परिवर्तनों के स्वीकार और नकार को लेकर लोगों की नैतिक हिचक को भी समाप्त कर देती है। नवीन अर्थव्यवस्था ने जो प्रश्न उछाले थे उनका उत्तर बौद्ध धर्म में था। बुद्ध ने स्त्री, और उसमें भी विधवा तक को, परजीवी के रूप में जीवन यापन करने की छूट नहीं दी और उसे भी उत्पादन की प्रक्रिया में शामिल किया।[८]

पशुबलि का बौद्धों द्वारा बहिष्कार, जीव दया एव करुणा का मामला उतना नहीं लगता जितना कृषि आधारित अर्थव्यवस्था के अनुकूल उनकी उपयोगिता एव तत्पश्चात् उनके संरक्षण का। कृषि में उपादेयता के चलते ही गाय बैलो की रक्षा वाले यज्ञ सम्पादित करने का विधान दिया गया।[९] परन्तु भोजन की आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखा गया था। शायद इसीलिए बौद्धों में सुअर का मांस भक्षण अधिक लोकप्रिय प्रतीत होता है। बुद्ध को स्वयं भी वैशाली के गृहस्थ उग्ग के द्वारा सूकर मार्दव परोसा गया था।[१०] अगर यह अहिंसा और जीव दया की बात होती तो सुअर भी 'जीव' ही है एवं उसकी हत्या भी हिंसा ही है।

बौद्धों और जैनों के द्वारा अपनी बातों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए जिन भाषाओं का चयन किया गया उसके पीछे एक तो यह कारण प्रतीत होता है कि वे आम जनता की भाषा में ही अपनी बात कहना चाहते थे ताकि अपनी बोल-चाल की भाषा में जनता धर्म और दर्शन के गूढ़ रहस्यों को भी आसानी से समझ सकती थी। बौद्धों ने मागधी भाषा को अपनाया जो बाद में पालि कहलाने लगी तो जैनों ने प्राकृत भाषा को। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत उच्च्व वर्गीय अभिजात लोगों की भाषा बन गई थी क्योंकि निम्न वर्गों के लोगों का तो विद्यारम्भ ही नहीं हो पाता था। ये तो द्विजातियों में ही नहीं गिने जाते थे और चूंकि वैदिक ग्रन्थ, ब्राह्मण संहिताएं, सूत्र ग्रन्थ एवं स्मृतियां इत्यादि संस्कृत में ही लिखे गए

हैं तथा शूद्रों को इन्हें पढ़ने की मनाही भी थी अतः स्वाभाविक है कि संस्कृत तक पहुँच उनकी हो ही नहीं सकती थी। प्राचीन नाटकों में निम्न वर्गीय लोगों एव स्त्रियों को हमेशा प्राकृत बोलते हुए पाया जा सकता है। फलत· सस्कृत धीरे-धीरे उच्च्य वर्णो की भाषा बन कर रह गई। और चूंकि नये-नये जन्म ले रहे बौद्ध एव जैन आन्दोलनों को स्थापित होने के लिए व्यापक स्वीकृति की आवश्यकता थी अत· अपनी विचारधारा के प्रचार के लिए भी व्यापक रूप से व्यवहृत भाषाओ का चयन करना पड़ा। संस्कृत का चयन इनके द्वारा इसलिए भी नहीं किया गया रहा होगा क्योंकि यह उसी विचार धारा के विरोध में खड़े थे एव उसी के विरूद्ध जनमानस तैयार कर रहे थे जिस विचार धारा ने घोषित रूप से 'संस्कृत' को अपने लिए 'पेटेन्ट' करा लिया था।

संस्कृत के बरअक्श पालि और प्राकृत को उनके व्यावहारिक क्षेत्रों से जोड़ कर यानि हीनतर मानी जाने वाली जातियों की दुनिया से जोड़ कर इस संभावना पर भी विचार होना चाहिए कि कही यह ब्राम्हणवादी सवर्ण मानसिकता या विचारधारा के वर्चस्व को चुनौती तो नहीं थी। यह भी बड़ी रोचक तुलना है कि बौद्ध एवं जैन धर्म जनता की भाषा में जनता को प्रशिक्षित करना चाहते हैं, सभी तक बात पहुँचे इसका प्रयास करते हैं, तो ब्राम्हण धर्म में, ज्ञान को गुप्त रखने पर बल दिया जाता है कि कहीं ज्ञान का वर्जित फल सबके जीभ न लग जाए।

पुनर्जन्म संकल्पना भी बड़ी रोचक है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के पिछले अध्यायों में इसकी चर्चा की जा चुकी है कि किस तरह पुनर्जन्म एवं स्वर्ग-नरक की अवधारणा के व्यापक प्रचार-प्रसार के आधार पर शोषण की व्यवस्था का पोषण किया जाता था।

उपरोक्त विवेचन एक बात लगभग सिद्ध कर देता है कि बौद्ध एवं जैन धर्म नवीन युग की नवीन प्रवृत्तियों के सर्वथा अनुकूल थे एवं ब्राम्हण धर्म पुराना पड़ता जा रहा था उसकी मान्यताएं जिन सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों में परवान चढ़ी थी। वे परिस्थितियां ही बदल गई। लोग अब उनके द्वारा परिचालित होने में घुटन महसूस कर रहे थे।

ऐसे में बुद्ध का आविर्भाव एव उनकी शिक्षाओं का प्रसार एक सुखद एहसास की तरह था जिससे लोग सराबोर होते गए।

संदर्भ संकेत एवं टिप्पणियाँ

१. वी० आर० अम्बेडकर, द अनटचेबिल्स, १९६९, पृ० १४७।

२ जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० १२३।

३ सुत्तनिपात, १.७.२१, ३ ५.५७।

४ व्यूलर ने मनुस्मृति का काल ई० पू० २०० से २०० ई० तक के मध्य में माना है। द्र०, सैक्रेड बुक्स आफ दि इस्ट २५ प्रस्तावना, CXIV-CXVIII
जायवसवाल ने इसे शुगवश में होने वाली ब्राम्मण प्रतिक्रिया का समकालीन माना है। द्र०, मनु एव याज्ञवल्क्य, पृ० २५-३२।

५ मनुस्मृति १ ९३, उत्तम अग (मुख) से उत्पन्न होने के कारण, क्षत्रियादि से पहले उत्पन्न होने के कारण, वेदों के धारणकर्ता होने के नाते ब्राम्मण ही सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी है।
उत्मागोंद्‌भवा ज्यैष्ठ्याद ब्राम्मणश्चैव धारणात्
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्ण प्रभु ।
कई अन्य उल्लेख भी दृष्टव्य है, मुनस्मृति १ ९५, १.९६, १.९७, १.९८, १.९९ इत्यादि।

६ विज्ञानेश्वर, याज्ञवल्क्य स्मृति, २ २१, इसमें सुमन्त को उद्‌घृत करते हुए दुराचारी ब्राम्मण के लिए प्राणदण्ड अभिहित किया गया है।
बौधायन धर्मसूत्र, १.१०; १८.१९ ब्रम्ह हत्या गुरुतल्प, सुवर्ण स्तेय, सुरापान करने पर तप्त लोहे से दागकर निर्वासित कर देना चाहिए।

७. शर्मा रामशरण, प्रारम्भिक भारत का सामाजिक और आर्थिक इतिहास पृ० १५८

८. उत्संस्करण की नीति द्र० वही, पृ० १५८
निम्न सस्कृति के लोगों का उच्चतर सस्कृति में विलयन से सम्बन्धित नीति। महाकाव्य 'रामायण' की नर-वानर मैत्री क्या उत्सस्करण की नीति ही थी? या राम के द्वारा अपने हितो के निमित्त वानरों का उपयोग कर लिया गया और उन्हें अपने समाज में अपनी नियति के साथ छोड दिया गया। सभव है कि वानर जाति के प्रति राम की सदाशयता रही हो परन्तु इस मात्र से कुछ ठोस होता है? कितने वारों को सुसस्कृत बनाया गया। सामाजिक-राजनैतिक संरचना में कोई पद अथवा आधार दिया गया? सम्य समाज के अनुरूप अनुकूलित किया गया? इसकी तुलना में कम से कम अशोक ने जरूर कुछ सदाशयी क्रियान्वयन भी किया था। भले ही राजनैतिक आर्थिक हितों के लिए ही

९. मनुस्मृति १० ४३-४४
"शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रिय जातय.
वृषलत्वं गता लोके ब्राम्मणादर्शनेन च"। १०, ४३
"पौण्ड्रकाश्चौण्ड्र द्रविणा कम्बोजा यवना शका.
पारदापह्ल्वाश्चीना किराता दारदाः खशा., १०.४४।

१०. पतंजलि महाभाष्य २.४.१०।

११. महाभारत अनुशासन पर्व, ३३, २१, २३।

१२. मनुस्मृति, ३.७७
यथा वायु समाजित्य वर्तन्ते सर्वजन्तव तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमा ।

१३. मनुस्मृति ६.१०;।
यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् तथैव श्रमिण सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् व्यास स्मृति, ४, २-४; १३-१४ महाभारत शान्ति पर्व, १२.६।

१४. जयशकर मिश्र, पूर्वोक्त पृ० २३१।

१५. विस्तृत विवरण के लिए दृष्टव्य।
रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाए, पृ० १५६।

१६. रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ० ५१।

१७. विस्तृत विवरण के लिए देखे रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाएं, पृ० १५८
अन्यत्र भी, रामशरण शर्मा, शूद्रों का प्राचीन इतिहास पृ० ९४-९९, ३१५-३१६।

१८. आर० सी० मजूमदार ऐक्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ४९।

१६ गौतम धर्म सूत्र ५ ८.२३५।

२० आपस्तम्ब धर्मसूत्र, पृ० १०२-३।

२१. मनुस्मृति ६.४१८

"वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्।
तो हिच्युतौ स्वकर्मभ्य क्षोभयेतामिद जगत्।।

२२ वैश्य वर्ण के विहित कर्तव्यों के लिए देखें, अध्याय ३ सन्दर्भ सख्याए १३२, १४४, १४५।
शूद्र वर्ण के विहित कर्तव्यों के लिए देखें उसी अध्याय की सदर्भ स० १४६, १५०, १५१।

२३ ए० स्वीतजर, इण्डियन थॉट एण्ड इट्स डेवलपमेन्ट १६५६, पृ० ४६।

२४ जे० टी० व्हीलर, ऐन्श्येण्ड एण्ड हिन्दू इण्डिया १६६१, पृ० ४६।

२५ रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास पृ० ७४-७५।

२६ अर्थशास्त्र, शामा शस्त्री सस्करण १६२४ १११ २ अन्यत्रयी द्र० गौतम IV, १४-१५।
विष्णु XXIV २७-२८, नारद XII, ४४।
आदिपर्व, ६७.१०।

२७ अर्थशास्त्र १११ २,।
पितृ प्रमाणाश्चत्वार· पूर्व धर्म्या मातृपितृ प्रमाणारशेष ।

२८ बौधायन धर्मसूत्र १.२०, १४-१५।
अनियंत्रित कलता हि वैश्य शूद्रा भवन्ति
कर्षण सुश्रुषाधिकृतत्वात्।

२६ अर्थशास्त्र, १११.४।
अमोक्षोधर्म विवाहानाम् इति।

३०. अर्थशास्त्र, १११ ४।

३१. नारद XII. १०८।

३२ गौतम XVIII. १८।
"द्वादश वर्षाणि ब्राम्मणस्य विद्यासम्बन्धे"।

३३. अर्थशास्त्र १११.४;।

३४. रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ०-७६-७७।

३५. मनुस्मृति, ६, ६६
'अयं द्विजेर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगहित' द्विजों के लिए इसे पशु धर्म कहकर निन्दित किया है विधवा विवाह एव वियोग को उच्च वर्णों के लिए गर्हित बताने वाले साक्ष्य अन्य भी है, मनुस्मृति, ६ ६३, ६ ६४, ६ ६५, ६.६६, ६.६७, इत्यादि।

३६. पी०वी० काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्राज, II, पृ० ६०४ पर उद्धृत। विधवा विवाह को शूद्रों के लिए मनु ने विहित किया है। मनुस्मृति ६.६६।

३७. समान वर्ण में विवाह के कई प्रसंग स्मृतियों एवं सूत्रों में पाए गए हैं यथा- गौतम धर्मसूत्र, ४ १, (गृहस्थ सदृशीं भार्या......)। मनुस्मृति, ३.१२, (सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्माणि)।

३८ धुर्ये, कास्ट, क्लास, एण्ड आकुपेशन, पृ० १७४-७५ घुर्ये द्वारा बताए गए तीनों कारण (१) रक्त की पवित्रता (२) वैदिक संस्कृति की रक्षा (३) ब्राह्मणों की श्रेष्ठता स्थिर रखने की अभिलाषा निम्न वर्णों से दूरी कायम करने के प्रयासों की पुष्टि ही करते हैं।

३६ द्र०-रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ० ७८-८० जयशकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ३४३-४४।

४०. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास पृ० २८६।

४१. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० २६८।

४२ जयशकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० २६८।

४३. आप स्तम्ब धर्म सूत्र, १ १.१.६।
(अशूद्राणाम् अदृष्ट कर्मणामुपायनम् वेदाध्ययन मग्न्याधेय फलवन्ति च कर्माण)

४४. आप स्तम्ब धर्मसूत्र, १.३.६.६; शांखायन गृह्यसूत्र, ४.७.३३.।

४५ गौतम धर्मसूत्र, १२.४.६, (अथ हास्यवेदमुप श्रृण्वतस्त्र पुज तुम्या श्रोत परिपूरणमुदाहरणे जिव्हाच्छेदो धारणे शरीरभेद)।

४६ वशिष्ठ धर्मसूत्र, xviii, १४ ।
न शूद्राय नतिम् दधात् ।

४७ मनुस्मृति, ४ ६८, ४ १०८.।

४८ ऋग्वेद १०.७१.६, ६ ११२ १।

४९ मनु का कथन है कि जिस शिष्य के पास धर्म और अर्थ नहीं है वह ऊसर भूमि के समान है और वहाँ विद्या के बीज का बपन व्यर्थ है-
धर्मार्थो यत्र न स्याता शुश्रुषा वाऽपि तद्विधा तत्र विद्या न वक्तव्या शुभ बीजभिवासर- २ ११२
'आप्त शक्तो अर्थद . . . अन्यत्र भी मनुस्मृति में शिष्य चयन का आधार उसकी धन देने की शक्ति को भी माना गया है।

५० गौतम धर्मसूत्र, १०, ६७
आर्या नार्थ योर्ण्य तिक्षेपे कर्मण साम्यम्।

५१ बौधायन धर्मसूत्र, १.५.१० २४, वशिष्ठ धर्मसूत्र, २ २७।

५२ रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ०-५१।

५३ रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाएँ, पृ० १७६।

५४ ऋग्वेद, १.३३.३, १.१२४.१०, १ १५१.६; १ १८० ७, ५ ३४.७, ६ ५१ १४, ७ ६.३, १० १०८ इत्यादि।

५५ द्र० प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय सदर्भ सख्या ७६ से आगे एव ७७ तथा ७८।

५६ द्र० उपरोक्त संदर्भ स० ५४।

५७ रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाएँ, पृ० १७४

५८ एस.सी. बनर्जी, धर्मसूत्राज, कलकत्ता, १९६२, पृ० १८५।

५९ अगुत्तर निकाय, १.११६।

६० वही।

६१ वही।

६२. वही, ११७।

६३. अंगुत्तर निकाय, १.११७।

६४. अगुत्तर निकाय, १.११५-१६।

६५. दीघ निकाय, (पा.टे.सो.) १.७१-७२; मज्झिम निकाय, २.११६; अंगुत्तर निकाय, २.६६; अपरंच द्र०, भागचन्द्र जैन, बौ) संस्कृति का इतिहास, नागपुर, १९७२, पृ० २५४।

६६. द्रष्टव्य, प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय की सन्दर्भ स० ३२१, ३२२, ३२३ एव ३२४।

६७. वशिष्ठ, २.४१ के आगे
बौधायन, १.५.१०.२३-२५, अपरच द्र०, प्रो० रामशरण शर्मा की पुस्तक प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक संरचनाएँ, पृ० १७६।

६८ गौतम, १०.६; वशिष्ठ, १०.४४-४८; मनु.८.१४४

६९ आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.३२.२१

७० बौधायन धर्मसूत्र, २.३.६.३३-३४

७१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.५.१७.१४

७२ अगुत्तर निकाय, १ ११५-१६-१७

७३. द्र०, रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक संरचनाएँ, पृ०-१७८।

७४ गौतम धर्मसूत्र, xvii. १७।

७५ विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, जी०एस०पी० मिश्र की पुस्तक 'दि एज आफ विनय, पृ० १६७-६८, जे०सी० जैन, लाइफ इन एन्श्येण्ट इण्डिया, ऐज डिपिक्टेड इन जैन कैनन, पृ० १६५-६६।

७६. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एव सामाजिक सरचनाएँ, पृ० १७८।

७७. जी०एस०पी० मिश्र, दि एज आफ विनय, पृ० १६८

७८ अगुत्तर निकाय, ३ ३७-३८ इसमें कहा गया है कि विधवा को भी बुनाई तथा ऊन के गोले बनाने की कला ज्ञात होनी चाहिए।

७६ सयुत्त निकाय, १.७६

८० अगुत्तर निकाय, २,४६-४७

शोध प्रबन्ध में उद्धृत ग्रन्थों की सूची

शोध प्रबन्ध में उद्धृत ग्रन्थों की सूची

मौलिक ग्रन्थ

ब्राह्मण साहित्य

ऋग्वेद	वैदिक संशोधन मण्डल, पूना
अथर्ववेद	स्वाध्याय मण्डल, १६३८।
अर्थशास्त्र	कौटिल्य, अनुवादक शामाशास्त्री, छठा संस्करण, मैसूर १६२०।
अष्टाध्यायी	पाणिनि, दो जिल्दों में, शीसचन्द्र बसु द्वारा सम्पादित तथा अनूदित, पुनर्मुद्रित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १६६२।
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र	सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, जि० ३०।
आपस्तम्ब धर्मसूत्र	सं०, जी० ब्यूलर, द्वितीय संस्करण।
आश्वालायन गृह्यसूत्र	सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, जि० २६ भाग१।
ऐतरेय ब्राह्मण	द हारवर्ड ओरिएन्टल सीरिज, जि० २५, हारवर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १६२०।
गोभिल गृह्यसूत्र	सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, जि० ३०, भाग-२।
गौतम धर्मसूत्र	आनन्दाश्रम संस्करण, १६१०।
छान्दोग्य उपनिषद्	सं० वासुदेव लक्ष्मणशास्त्री पणसीकर।
जैमिनीय ब्राह्मण	सं० रघुवीर तथा लोकेश चन्द्र, नागपुर, १६६४।
ताण्ड्य ब्राह्मण	चौखम्बा संस्करण।
तैत्तिरीय ब्राह्मण	सं० वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणसीकर।
तैत्तिरीय ब्राह्मण	आनन्दाश्रम संस्करण
तैत्तिरीय संहिता	आनन्दाश्रम संस्करण।
पंचविश ब्राह्मण	सं० ए० वेदान्त वागीश, कलकत्ता, १८६६-७४।
पारस्कर गृह्यसूत्र	सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, जि० २६।
बौधायन धर्मसूत्र	एल० श्री निवासाचार्य द्वारा सम्पादित, मैसूर १६०७।

बृहदारण्यक उपनिषद — स० वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणसीकर।

मनुस्मृति — चौखम्बा संस्करण।

मैत्रायणी संहिता — सं० एस० डी० सातवलेकर, औंध, १६४२

वसिष्ठ धर्मसूत्र — सं० ए० फ्यूरर, पूना १६३०।

वाजसनेयी संहिता — सं० एस० डी० सातवलेकर, औंध, १६४२।

शतपथ ब्राह्मण — सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट सीरीज।

साखायन गृह्यसूत्र — सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, जि० २६।

हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र — सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, जि० ३०।

बौद्ध तथा जैन साहित्य

अंगुत्तर निकाय — सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा-देवनगरी-पालि सीरिज; अंग्रेजी अनुवाद-ग्रेजुअल सेइंग्स, पाली टेक्स्ट सोसायटी, ५ जिल्द।

अवदान शतक — स० पी० एल० वैद्य, बुद्धिस्ट संस्कृत टेक्ट्स, सं० १६ मिथिला विद्यापीठ दरभंगा, १६५८।

आचारांग सूत्र — याकोबी द्वारा अंग्रेजी में अनुदित, जैन सूत्रज, भाग २ सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, जि० २३।

उत्तराध्ययन सूत्र — याकोबी द्वारा अंगेजी में अनुदित, जैन सूत्रज, भाग २, सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, जि० ४५।

कल्प सूत्र — जैन सूत्रज, भाग१, सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, जि० २२।

गिलगिट मैनुस्क्रिप्टस (मूल सर्वास्तिवाद विनय) — ८ जिल्दों में नलिनाक्ष दत्त द्वारा सम्पादित, श्रीनगर।

चुल्लवग्ग — सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा-देवनगरी-पालि सीरिज; सैक्रेड बुक्स आफ दि बुद्धिस्टस सीरिज में 'बुक आफ द डिसिप्लिन' शीर्षक से आई० बी० हार्नर का अंग्रेजी अनुवाद।

जातक-थेरगाथा	सं० कावेल, पालि टेक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित "साम्स आफ द ब्रेद्रेन" नाम से श्रीमती राइस डेविड्स का अनुवाद, पालि टेक्स्ट सोसायटी।
थेरीगाथा	साम्स आफ द सिस्टर्स नाम से अग्रेजी अनुवाद, पालि टेक्स्ट सोसायटी।
दिव्यावदान	सं० पी० एल० वैद्य, बुद्धिस्ट संस्कृत टेक्स्टस, स० २० मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १६५६।
दीघनिकाय	सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा-देवनगरी-पालि सीरिज, अंग्रेजी अनुवाद 'डायलाग्स आफ द बुद्ध" सेक्रेड बुक्स आफ द बुद्धिस्टस सीरिज।
नायाधम्मकहा	सं० एन० वी० वैद्य पूना, १६४०।
पाचित्तिय	सं० भिक्षु जगदीश कश्यप, नालन्दा-देवनागरी-पालि सीरिज, आई० बी० हार्नर का अंग्रेजी अनुवाद "बुक आफ द डिसिप्लिन"।
पाराजिक	सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, देवनागरी-पालि सीरीज, आई० बी० हार्नर का अंग्रेजी अनुवाद "बुक आफ द डिसिप्लिन"।
मज्झिम निकाय	सं० भिक्षु जगदीश कश्यप, नालन्दा-देवनागरी-पालि सीरीज ३ जिल्द, "द मिडिल लेग्थ सेइंग" नाम से आई० बी० हार्नर का अंग्रेजी अनुवाद, ३ जिल्द, पालि टेक्स्ट सोसायटी।
महावग्ग	सं० भिक्षु जगदीश काश्यप; आई० बी० हार्नर का अंग्रेजी अनुवाद 'बुक आफ द डिसिप्लिन"।
मिलिन्द पञ्हो	सं० आर० डी० वाडेकर, बाम्बे यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, बाम्बे १६४०, अंग्रेजी अनुवाद "द क्वेस्चेन्स आफ किंग मिलिन्द", सेक्रैड बुक्स आफ दि ईस्ट, जि० ३५-३६।
समन्तपासदिका	बुद्धघोस की विनय पर टीका, पालि टेक्सस्ट सोसायटी।

सुत्तनिपात — "द हारवर्ड ओरियन्टल सीरिज, जि० ३७।

सुमगल विलासिनी — बुद्धघोस की दीघनिकाय पर टीका, पालि टेक्स्ट सोसायटी।

सूत्रकृताग — याकोबी का अग्रेजी अनुवाद, जैन सूत्रज, भाग२, सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, जि० ४५।

आधुनिक सहायक ग्रन्थ

अग्रवाल, बी० एस० — इण्डिया ऐज नोन टू पाणिनि, लखनऊ, १९५२।

वही — इण्डियन आर्ट-ए हिस्ट्री आफ इण्डियन आर्ट फ्राम अलिएस्ट टाइम्स टू थर्ड सेन्चुरी ए० डी०, वाराणसी १९६५।

वही — प्राचीन भारतीय लोक धर्म, ज्ञानोदय, ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६४।

वही — भारतीय कला, पृथिवी प्रकाशन वाराणसी, १९६६।

अल्तेकर, ए० एस० — एज्यूकेशन इन एन्श्येन्ट इण्डिया, बनारस, १९३४।

वही — द पोजीशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाजेशन, तृतीय संस्करण, नई दिल्ली १९६२।

वही — 'स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, तृतीय संस्करण, १९५८, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली पुनर्मुद्रण १९७२।

आलचिन ब्रिजेट एवं रेमन्ड — द बर्थ आफ इण्डियन सिविलाइजेशन, पेग्विन बुक्स, १९६८।

आयंगर के० वी० आर० — ऐन्श्येन्ट इण्डियन इकानामिक थाट, मनीन्द्रचन्द्र लेक्चर्स १९२७, बनारस १९३४।

ओम प्रकाश — फूड एण्ड ड्रिक्स इन ऐन्श्येन्ट इन्डिया, दिल्ली १९६१।

कनिंघम अलेग्जेंडर — द स्तूप आफ भरहुत, लन्दन १८७९।

काणे पी० वी० — हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र जि० १, भाग १ जि० २ पूना।

कीथ — रेलिजन एण्ड फिलासफी आफ द वेद, केम्ब्रिज,

वही — संस्कृत ड्रामा, आकसफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन १९२४।

कुमारस्वामी, ए० के० — यक्षज, २ भाग, केम्ब्रिज १९२८।

कोसम्बी, डी० डी० — द कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन आफ इण्डिया इन हिस्टारिकल आउटलाइन, लन्दन १९६५।

गार्डन, डी० एच० — द प्रीहिस्टारिक बैकग्राउन्ड आफ इण्डिया कल्चर बम्बई, १९५८।

घुरये जी० एस० — इण्डियन कास्ट्यूम, बम्बई, १९५१।

वही — कास्ट, क्लास एन्ड आक्यूपेशन, बम्बई।

घोषाल, यू० एन० — ए हिस्ट्री आफ हिन्दू पब्लिक लाइफ कलकत्ता, १९४५।

वही — ए हिस्ट्री आफ हिन्दू पोलिटिकल थियरीज, द्वितीय संस्करण, लन्दन १९२७

वही — द अग्रेरियन सिस्टम इन इण्डिया, कलकत्ता, १९३०।

वही — स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, कलकत्ता, १९५७।

वही — हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, कलकत्ता, १९२९।

चक्लदार, एच० सी० — आर्यन आक्यूपेशन आफ ईस्टर्न इण्डिया, पुनर्मुद्रण स्टडीज पास्ट एण्ड प्रेजन्ट, कलकत्ता, १९६२।

वही — सोश्यल लाइफ इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया–ए स्टडी इन वात्स्यायन्स कामसूत्र, कलकत्ता १९५४।

चाइल्ड वी० गार्डन — न्यू लाइन आट आन द मोस्ट ऐन्श्येन्ट ईस्ट, लन्दन, १९५२।

चान्दा आर० पी० — इण्डो आर्यन रेसेज, राजशाही, १९१६।

जयसवाल, के० पी० — हिन्दू पालिटी, द्वितीय संशोधित संस्करण, बंगलौर १९४३।

जैन, जे० सी० — लाइफ इन एन्श्येन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन द जैन कैनन, बम्बई १९४७।

थापर रोमिला	अशोक एण्ड द डिक्लाइन आफ द मौर्यज, अक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली १९७३।
वही	ऐन्श्येन्ट इण्डियन सोश्यल हिस्ट्री, ओरियन्ट लांगमैन दिल्ली १९७८।
दत्त, एन० के०	ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ कास्ट इन इण्डिया जि० १ कलकत्ता १९३१।
प्रभु, पी० एच०	हिन्दू सोश्यल आर्गनाइजेशन, पंचम संस्करण, बम्बई, १९६१।
पाडे, आर० बी०	हिन्दू संस्कारज, बनारस, १९४९।
पिगट	प्रीहिस्टारिक इण्डिया, पेग्विन बुक्स।
बन्द्योपाध्याय	इकानमिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन इण्डिया जि०१।
बरुआ, बी० एम०	प्री-बुद्धिस्ट इण्डियन फिलासफी, कलकत्ता, १९२१।
बसाक, आर० जी०	लेक्चर्स आन बुद्धिज्म, कलकत्ता, १९६१।
बसु, जोगिराज	इन्डिया आफ द एज आफ द ब्राह्मणज, कलकत्ता, १९६९।
बाशम, ए० एल०	हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन आफ द आजीविकज, लन्दन, १९५१।
बेनी प्रसाद	द स्टेट इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, इलहाबाद १९२८।
भण्डारकर, डी० आर०	लेक्चर्स आन अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया।
भार्गव, पी० एल०	इण्डिया इन द वैदिक एज, द्वितीय संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण, लखनऊ १९७१।
मजूमदार, आर० सी०	कारपोरेट लाइफ इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९२२।
मजूमदार, आर० सी० तथा पुसालकर	द वेदिक एज, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९७१
मिश्र जी० एस० पी०	दि एज आफ विनय मुंशीराम, मनोहरलाल, नई दिल्ली, १९७२।

वही	प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १६८३
मिश्र, रमानाथ	प्राचीन भारतीय समाज, अर्थव्यवस्था एवं धर्म
फिक, रिचर्ड	द सोश्यल आर्गनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया इन बुद्धजटाइम, अनु० एस० के० मैत्र, कलकत्ता, १६२०।
मुकर्जी आर० के०	हिन्दू सभ्यता, अनु० वासुदेव शरण अग्रवाल राजकमल प्रकाशन, १६६०
मेहता, रतिलाल	प्री बुद्धिस्ट इण्डिया, बम्बई, १६३६।
मैकक्रिण्डल	ऐन्श्येन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगस्थनीज एण्ड एरियन, कलकत्ता, १६२६।
वही	मेगस्थनीज एण्ड एरियन।
मैक्डानेल	हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर।
मैक्डानेल तथा कीथ	वैदिक इन्डेक्स, २ जिल्द, वाराणसी, १६५८
मैक्समुलर	हिब्बर्टलेक्चर्स।
राइज डेविड्स. टी. डबल्यू.	बुद्धिष्ट इण्डिया, सं. ६, कलकत्ता, १६५५।
राव, विजय बहादुर	उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, वाराणसी, १६६६।
विलियम्स, मोनियर	रेलिजस थाट एण्ड लाइफ इन इण्डिया, भाग १, लन्दन १८८३।
शर्मा, आर० एस०	प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, १६६२
वही	प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, राजकमल, १६६२
वही	शूद्रो का प्राचीन इतिहास, राजकमल प्र०, १६६२
समद्दर जे० एन०	लेक्चर्स आन दि इकानमिक कन्डीशन इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, कलकत्ता, १६२२।

स्मिथ, बी० ए०	द अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया चतुर्थ संस्करण आक्सफोर्ड, १६५६
हार्नर, आई० बी०	वीमेन अण्डर प्रिमिटव बुद्धिज्म लन्दन, १६२०
वही	द इन्डस सिविलाइजेशन, कैम्ब्रिज १६५३।
के.ए. नीलकंठ शास्त्री	(संपा०) एज आफ दि नदाज एण्ड मौर्याज, दिल्ली १६६७
ए.के. नारायण तथा टी. एन. राय	एक्सकैवेशंस ऐट राजघाट, भाग-१, वाराणसी, १६७७
इरविन	इण्डियन टेक्सटाइल इन हिस्टोरिकल पर्सपेक्टिव
भाग चन्द्र जैन	बौद्ध संस्कृति का इतिहास, नागपुर, १६७२

इण्डियन ऐन्टिक्वेरी

इण्डियन कल्चर

इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली

इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस-प्रोसीडिंग्स

एनल्स आफ द भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट

ऐण्श्येन्ट इण्डिया

जर्नल आफ दि विहार रिसर्च सोसाइटी

जर्नल आफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी

मेमायर्स आफ द आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया